ॐ

आचार्य उमास्वामी विरचित

तत्त्वार्थसूत्रम्

Tattvārthasūtram

by

Ācārya Umāsvāmī

प्रथम भाग

First Part

(प्रथम अध्याय से पञ्चम अध्याय तक)

(First to Fifth Chapter)

मुनि श्री अभयसागरजी

के कुशल मार्गदर्शन, निर्देशन एवं आशीर्वाद से

हिन्दी और अंग्रेजी टीका संकलन एवं सम्पादन

द्वारा

ब्र. एस.एल. जैन

Compilation & Edition of Hindī & English Commentary under the skillful guidance, direction & blessings of Muni Śrī Abhayasāgarajī

by

Br. S.L. Jaina

मैत्री समूह

तत्त्वार्थसूत्रम्/Tattvārthasūtram
आचार्य उमास्वामी/Ācārya Umāsvāmi
प्रथम भाग/First Part
प्रथम अध्याय से पञ्चम अध्याय तक/First to Fifth Chapter
संकलन एवं सम्पादन - ब्र.एस.एल.जैन/Compilation & Edition - Br. S.L. Jain
(मुनि श्री अभयसागरजी के कुशल मार्गदर्शन, निर्देशन एवं आशीर्वाद से हिन्दी और अंग्रेजी टीका का संकलन एवं सम्पादन/Compilation & Edition of Hindī & English Commentary under skillful guidance, direction & blessing of Muni Śrī Abhaysāgaraji)

© Publisher
Cooperation in Publication :
Maitrī Samūha
First Edition : 29th January, 2014
Tirthankara Ṛṣabhadeva Salvation Day
तीर्थङ्कर ऋषभदेव निर्वाण दिवस/29-01-2014

Price : ₹ 385/-

Available at :
1. Śrī P.L. Bainā़ḍā़
1/205/IV, Professors Colony
Harī Parvata, **Āgarā** - 282 002 (U.P.)
M : 093581-52111, 098370-25087
2. Śrī Rāja Pramoda Śāha
2600, Nāgoriyon-Kā-Cauka
Ghī-Wālon-Kā-Rāstā
Jouharī Bāzāra, **Jaipura** (Raj.)
Ph. : 0141-2566098
M : 094147-95342

उच्चारण की रीति
System Adopted for Transliteration

उच्चारण
Pronunciation

स्वर
Vowels

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ
a	ā	i	ī	u	ū	ṛ

ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
e	ai	o	au	ṁ	ḥ

व्यंजन
Consonants

क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
k	kh	g	gh	ṅ
च्	छ्	ज्	झ्	ञ्
c	ch	j	jh	ñ
ट्	ठ्	ड् (ड़्)	ढ् (ढ़्)	ण्
ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ
त्	थ्	द्	ध्	न्
t	th	d	dh	n
प्	फ्	ब्	भ्	म्
p	ph	b	bh	m
य्	र्	ल्	व्	
y	r	l	v	
श्	ष्	स्	ह्	
ś	ṣ	s	h	
क्ष्	ज्ञ्	त्र्	श्र	
kṣ	jñ	tr	śr	

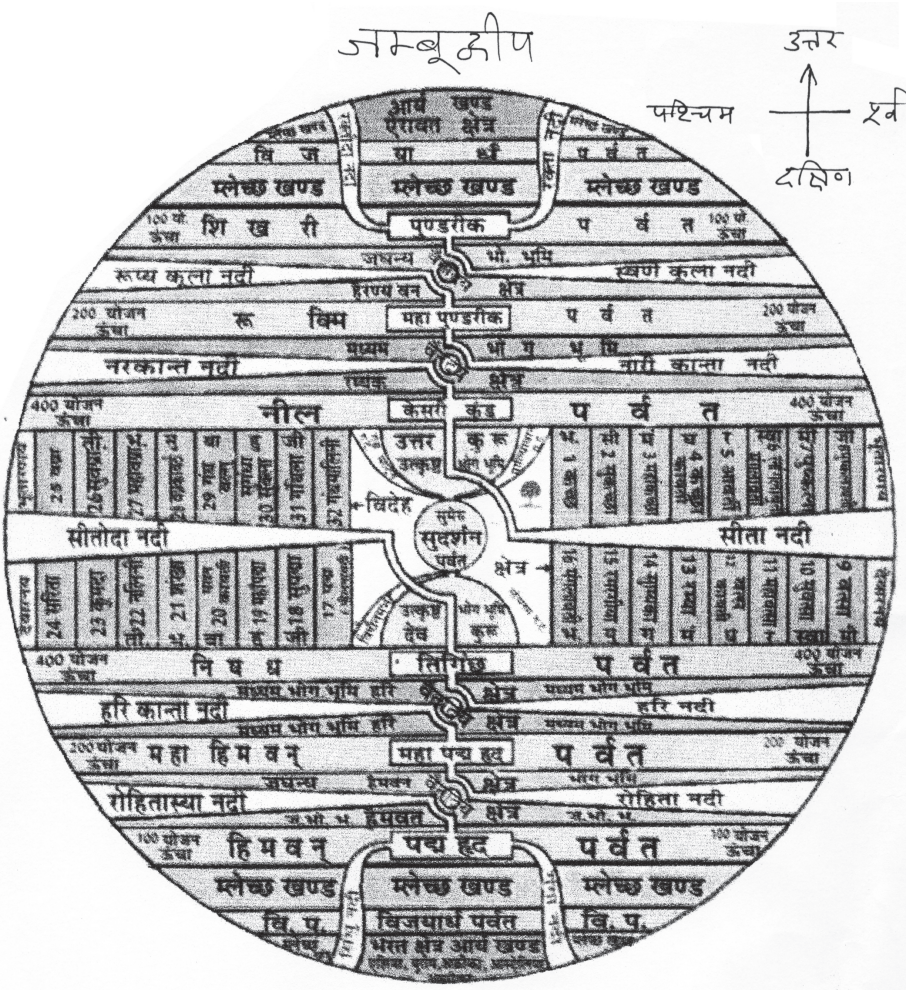
जम्बूद्वीप
उत्तर
पश्चिम
पूर्व
दक्षिण
आर्य खण्ड
ऐरावत क्षेत्र
म्लेच्छ खण्ड
म्लेच्छ खण्ड
म्लेच्छ खण्ड
शिखरी पर्वत
पुण्डरीक
रूप्यकूला नदी
हैरण्यवत क्षेत्र
रक्ता नदी
रक्तवती नदी
रूक्मि
महा पुण्डरीक पर्वत
नरकान्ता नदी
रम्यक क्षेत्र
नारीकान्ता नदी
नील
केसरी कुंड पर्वत
सीतोदा नदी
उत्तर कुरु
सुमेरु सुदर्शन पर्वत
विदेह क्षेत्र
सीता नदी
निषध
तिगिंछ पर्वत
हरिकान्ता नदी
हरि क्षेत्र
हरि नदी
महा हिमवन्
महा पद्म ह्रद पर्वत
रोहितास्या नदी
हैमवत क्षेत्र
रोहिता नदी
हिमवन्
पद्म ह्रद पर्वत
म्लेच्छ खण्ड
म्लेच्छ खण्ड
म्लेच्छ खण्ड
वि. प.
विजयार्ध पर्वत
वि. प.
भरत क्षेत्र आर्य खण्ड

प्रकाशकीय

आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य) महाराज द्वारा संस्कृत भाषा में रचित 'तत्त्वार्थसूत्र' अपरनाम 'मोक्षशास्त्र' ऐसा महान् ग्रन्थ है, जिसे जैनधर्म के सभी वर्गों में मान्यता प्राप्त है। ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के मध्य रचित यह ग्रन्थ ३५७ सूत्रों में जैनदर्शन के विविध विषयों को सुसम्बद्ध, क्रमबद्ध और वैज्ञानिक रीति से व्याख्यायित करता है।

तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन का संस्कृत भाषा निबद्ध आद्य सूत्र ग्रन्थ है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवलाजी (पु. ९/२५९) में सूत्र की परिभाषा इस प्रकार बताई है – ''अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् गूढनिर्णयम्। निर्दोषं हेतुमत्तथ्यं सूत्रमित्युच्यते बुधैः''।।११७।। अर्थात् जो थोड़े अक्षरों से संयुक्त हो, संदेह से रहित हो, परमार्थ सहित हो, गूढ़ पदार्थों का निर्णय करने वाला हो, निर्दोष हो, युक्तियुक्त हो और यथार्थ हो, उसे विद्वान् 'सूत्र' कहते हैं। कषायपाहुड में कहा गया है कि जिसके द्वारा अनेक अर्थ सूचित हों, वह सूत्र–गाथा है। इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में अनेक अर्थ होना संभव है।

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी हर वर्ष दशलक्षण पर्व में प्रत्येक अध्याय की व्याख्या करते समय अपने चिन्तन से सूत्रों के विषय को स्पष्ट करते हैं। ऐसे स्पष्टीकरण का आधार टीका ग्रन्थों आदि में उपलब्ध होता है। उनका चिन्तन आगम की दृष्टि से प्रामाणिक और नवीन दृष्टिकोण को उत्पन्न कराने वाला होता है। इसको दृष्टि में रखकर परमपूज्य मुनि श्री अभयसागरजी ने ब्र. श्री एस.एल. जैन को इन प्रवचनों से लाभ लेने का परामर्श दिया। श्री एस.एल. जैन ने लगातार चार वर्षा–योगों में आचार्यश्री के सान्निध्य में दशलक्षण पर्व में रहकर उनके चिन्तन को आत्मसात् किया और प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका उल्लेख कई सूत्रों की टीका में समाहित करने का प्रयास किया है।

जैसा पूर्व में कहा है तत्त्वार्थसूत्र की टीका के अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रत्येक टीकाकार ने अपने–अपने उद्देश्य को ध्यान में रखकर व्याख्यायें की हैं। कई टीकायें

दार्शनिक दृष्टिकोण से, कई वैज्ञानिक दृष्टिकोण से और कई विषयों को खोलने की दृष्टि से प्रश्नोत्तर रूप हैं। अंग्रेजी भाषा में भी कुछ टीकायें दिगम्बर और श्वेताम्बर विद्वानों ने अपने-अपने उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखी हैं। इन टीकाओं से निश्चित ही ग्रन्थ के विषय को अन्तरराष्ट्रीय पाठकों तक पहुँचाने में मदद मिली है। लेकिन वर्तमान नई पीढ़ी की शिक्षा-पद्धति को ध्यान में रखकर मैत्री समूह का प्रयत्न ऐसे ग्रन्थ को उपलब्ध कराने का है, जो हिन्दी टीका के साथ अंग्रेजी में भी हो। अतः श्री एस.एल. जैन ने मुनि श्री अभयसागरजी के कुशल एवं सक्रिय मार्गदर्शन में प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार किया है। मुनि श्री अभयसागर जी अभीक्ष्ण ज्ञानी हैं। उन्होंने गत ६-७ वर्षों में सम्पूर्ण ग्रन्थ को अनेक बार संशोधित करने हेतु सुझाव दिये हैं। ग्रन्थ का विषय संकलन करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थ में व्याख्यायित सभी विषयों में जैनदर्शन द्वारा स्थापित सिद्धान्तों का तर्क-संगत विवरण हो और विभिन्न आचार्यों द्वारा यदि कहीं मत भिन्नता भी हो तो उसे भी दृष्टि में रखा जाए। ग्रन्थ में संस्कृत सूत्रों का अंग्रेजी में उच्चारण भी सूत्रानुसार हो सके, इसलिये उन्हें रोमन शब्दों में दिया गया है। सूत्र-शब्दों के अर्थ हिन्दी और अंग्रेजी में तथा टीका भी दोनों भाषाओं में होने से प्रारम्भिक पाठकों को विषय आत्मसात् करने में सरलता होगी, ऐसी आशा है।

ब्र. श्री एस.एल. जैन मध्यप्रदेश विद्युत मण्डल से सेवानिवृत्त कार्यपालक निदेशक हैं और उन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन की शुरूआत मुनि श्री क्षमासागरजी के भोपाल वर्षायोग में सन् १९९७ से की थी। मुनिश्री ने उन्हें जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्त, छहढ़ाला और तत्त्वार्थसूत्र का विधिवत् अध्ययन कराया और सन् २००३ में मुनि श्री क्षमासागरजी से ही उन्होंने रामगंजमण्डी (कोटा, राज.) वर्षायोग में पाँच प्रतिमाओं के व्रत ग्रहण किये। उसी वर्ष सात प्रतिमाओं के व्रत चाँदखेड़ी अतिशय क्षेत्र (झालावाड़, राजस्थान) में ग्रहण किये। इसी बीच उन्होंने मुनि श्री क्षमासागरजी के मार्गदर्शन में 'ABC of Jainism' पुस्तक लिखी, जिसे बीना वर्षायोग (सागर, म.प्र.) (१९९८) में मुनिश्री के सान्निध्य में विमोचित किया गया। इसके उपरान्त उन्होंने 'छहढाला' एवं 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' की टीकाओं का अंग्रेजी अनुवाद किया और ये पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी के प्रवचन

संग्रह 'प्रवचन पर्व' और 'प्रवचन पारिजात' का अंग्रेजी अनुवाद भी श्री एस.एल. जैन ने किया। उन्होंने पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी के आशीर्वाद से आठवीं प्रतिमा के व्रत सन् २००८ में गढ़ाकोटा (सागर, म.प्र.) के वर्षायोग में मुनि श्री क्षमासागरजी से ग्रहण किये। श्री एस.एल. जैन ने दिनांक ६ अक्टूबर, २०११ को चन्द्रगिरि, डोंगरगढ़ (छत्तीसगढ़) वर्षायोग में आचार्य श्री विद्यासागरजी से दसवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये। सन् २००५ से ही मुनिश्री क्षमासागारजी के प्रतिकूल स्वास्थ्य के कारण श्री एस.एल. जैन का उनके सान्निध्य में अध्ययन और लेखन का कार्य सम्भव न हो सका। लेकिन इस अवधि में उन्हें मुनि श्री अभयसागरजी का सान्निध्य प्राप्त हुआ और द्रव्यसंग्रह का अध्ययन उन्होंने मुनि श्री अभयसागरजी के सान्निध्य में किया और उनके ही मार्गदर्शन में द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की द्विभाषीय (हिन्दी-अंग्रेजी) टीका प्रकाशित हुई।

इस प्रकार ब्र. श्री एस.एल. जैन द्वारा लिखित उपर्युक्त छह पुस्तकों के प्रकाशन का सौभाग्य मैत्री-समूह को प्राप्त हुआ।

गत ६-७ वर्षों से मुनि श्री अभयसागरजी के मार्गदर्शन में उन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्रम्' प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका का संकलन कर उसे अंग्रेजी में अनुवाद किया है। वर्तमान में वे अपनी प्रतिमाओं का पालन करते हुए समाधिमरण (सल्लेखना) के लिये आचार्य श्री विद्यासागरजी के मार्गदर्शन में साधना में संलग्न हैं।

मुनि श्री अभयसागरजी के अथक मनन, चिन्तन और परिश्रम का ही परिणाम है कि प्रस्तुत ग्रन्थ इस रूप में तैयार किया जा सका है। मुनि श्री क्षमासागरजी एवं मुनि श्री पुनीतसागरजी ने भी ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवाद को कई बार देखकर उपयोगी सुझाव दिये हैं। मैत्री-समूह की ओर से परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी और मुनित्रय के चरणों में नमोस्तु निवेदित करते हुए भविष्य में भी आशीर्वाद प्राप्त होते रहने के लिये वीर प्रभु से प्रार्थना है।

इस ग्रन्थ को तैयार करने में कई अन्य विद्वानों एवं महानुभावों का सहयोग हमें प्राप्त हुआ है। हम उन सभी के आभारी हैं।

'मैत्री-समूह' मुनि श्री क्षमासागरजी के आशीर्वाद से सन् २००१ में स्थापित हुआ था। 'मैत्री-समूह' श्रेष्ठ आचार-विचार वाले निष्ठावान् व्यक्तियों का समूह है।

समूह का प्रत्येक व्यक्ति व्यसन से मुक्त है। परस्पर आत्मीय सहयोग और निःस्वार्थ सेवा की भावना विकसित करना समूह का पवित्र उद्देश्य है। अच्छा सोचना, अच्छा बोलना और अच्छा करना समूह के प्रत्येक व्यक्ति की विनम्र कोशिश रहती है। यह संस्थागत तमाम औपचारिकताओं से मुक्त है। पूर्व में मैत्री-समूह ने शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्ट योग्यता प्राप्त जैन प्रतिभाओं का सम्मान कर यथासंभव सहयोग दिया है। वर्तमान में सत्साहित्य का प्रकाशन और सामूहिक तीर्थ-वन्दना, संगोष्ठी आदि धार्मिक कार्य ही किये जा रहे हैं। इसी क्रम में प्रस्तुत ग्रन्थ का दो भागों में प्रकाशन मैत्री-समूह द्वारा किया जा रहा है। आशा है, इससे पाठकों को जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों को समझने में, श्रद्धान करने और तदनुरूप आचरण करने में सहायता प्राप्त होगी।

तीर्थङ्कर अभिनन्दननाथ केवलज्ञान दिवस — **-पन्नालाल बैनाड़ा**

१४-०१-२०१४ — (मैत्री-समूह)

१/२०५/(IV) प्रोफेसर कॉलोनी, — मो. ०९३५८१-५२११११

हरी पर्वत, आगरा-२८२ ००२ (उ.प्र.)

Publishers' Note

'Tattvārthasūtra' composed by Ācārya Umāsvāmī (Gṛddhapichācārya) is a great scripture which is accepted by all sects of Jaina religion. It is also known as 'Mokṣaśāstra'. This scripture composed somewhere in the period between first and second century A.D., consisting of only 357 Sūtras, reveals the entire Jaina philosophy in nutshell in a systematic, fool-proof and authentic manner.

'Tattvārthasūtra', in Saṁskṛta aphorism, is the first scripture composed in Jaina philosophy. Ācārya Vīrasenasvāmī, in Dhavalā scripture has given the definition of aphorism (Sūtra) as - "Alpākṣaramasaṁdigdhaṁ Sāravad Gūḍha Nirṇayam; Nirdoṣaṁ Hetum-attathyaṁ Sūtramityucyate Budhaiḥ." That is, that which has minimum words, is free from doubts, leads to upliftment of soul, is capable of resolving intricate problems, is free from blemishes, can not be contradicted and is exact, is known as Sūtra. Kaṣāyapāhuḍa scripture states that the one which reveals several meanings, is a Sūtra Gāthā. It is thus implied from these definitions that Sūtras of Tattvārthasūtra might have different & many interpretations.

The Most venerable learned Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī delivers, sermons on each of the chapter of Tattvārthasūtra in 'Daśalakṣaṇa Parva' and based on his deep reflection after studying the available commentaries in line with Āgama opens several points for new interpretations of the subject matter. His sermons have complete bearings of ancient scriptures and compels one to rethink. Keeping this in view, respected Muni Śrī Abhayasāgarajī advised Br. S.L. Jaina to take full advantage of these sermons and accordingly Śrī S.L. Jaina attended and tried to understand the hidden meaning of some of the Sūtras for four continuous years by remaining present at a place where Āchāryaśrī was staying during four months rainy season. He has tried to highlight these new vistas at appropriate places in the present commentary.

As has been stated above, several commentary scriptures on Tattvārthasūtra are available. Each author of these scriptures has commented based on his ultimate object. Some have bearings on philosophical outlook and some others have on scientific outlook and some are to enlarge the scope of the subject in question-answer form. Similarly some commentaries composed by both Digambara & Śvetāmbara authors are available in English as well. These commentaries have definitely helped to highlight the subject to the international community. Keeping in view the internationalization of education and social requirements, attempt by Maitrī Samūha is to make available such a scripture in bilingual form - i.e. commentary both in Hindī & English languages. As such, Śrī S.L. Jaina, under the skillful, competent & active guidance of Muni Śrī Abhayasāgarajī has prepared the present scripture. Muni Śrī Abhayasagarajī is a ceaseless persuer of knowledge and during last 6-7 years have reviewed the entire text for several times and has given valuable suggestions to make it in conformity with Jaina philosophy. While preparing the text, it has been kept in view that comments are in conformty with the accepted principles of Jaina philosophy & tradition and if there are different viewpoints while interpreting the subject by different ancient erudite monks/Ācāryas, the same has been mentioned. As the reader not knowing Saṁskṛta langauge, may be able to have pronunciation as intended, the same is given as Transliteration in Roman. The meaning of words of Sūtras are also given both in Hindī & English and also the comments. As such it is hoped that it would facilitate the beginners to understand the subject matter easily.

Br. S.L. Jaina is a retired Executive Director of M.P. Electricity Board. He began his new life-style based on spirituality in the year 1997 when Muni Śrī Kṣamāsāgarajī happened to stay for four rainy months at Bhopāla (M.P.). Muniśrī taught him in a systematic manner the fundamentals of Jaina principles, Chahaḍhālā & Tattvārthasūtra. He accepted vows of five 'Pratimās' i.e. vows of a house-holder, in the year 2003 with the blessings of Muni Śrī Kṣamāsagarajī during the four rainy months stay at Rāmagaṁjamandī (Kotā, Rājasthāna). In the same year, he accepted vows of seventh Pratimā at Atiśayakṣetra Cāndakheḍī,

(Jhālāvāda, Rājasthāna). During this period he wrote 'ABC of Jainism' which was formally released in the year 1998 during the four rainy months stay at Bīnā (Sāgara, M.P.) where Muni Śrī Kṣamāsāgarajī was staying. Thereafter he translated in English 'Chahaḍhālā' (Self Enlightenment) & 'Ratnakaraṇḍaka Śrāvakācāra' (Practical Path) and these books were also published. 'Pravacana Parva' (Preaching Paradise) & 'Pravacana Pārijāta' (Preaching Salvation) - the two books containing sermons delivered by respected Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī were also translated in English. At the strength of blessings of most venerable Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī, Śrī S.L. Jaina accepted vows of eighth Pratimā in the year 2008 in Gaḍhākotā (Sāgara, M.P.) where Muni Śrī Kṣamāsāgarajī was staying for four months rainy period. On 6th October, 2011 he accepted vows of tenth Pratimā in the auspicious feet of the most venerated Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī at Candragiri, Dongaragaḍha (C.G.) on where Ācāryaśrī was staying for four months rainy period.

Since the year 2005, Muni Śrī Kṣamāsāgarajī is facing health problems and as such it was not possible for Śrī S.L. Jaina to continue study of scriptures and to undertake any writting work under his guidance. But luckily he got an opportunity to seek guidance of Muni Śrī Abhayasāgarajī and he studied 'Dravya Saṁgraha' scripture and was able to write bilingual Hindī - English commentary of this scripture. The same was published. As such Maitrī Samūha was fortunate to publish above six books written by Śrī S.L. Jaina. During last 6-7 years, under the active, skillful and competent guidance and direction of Muni Śrī Abhayasāgarajī he has written commentary on Tattvārthasūtra and translated the same in English. Presently, he is preparing himself for accepting the vow of 'Sallekhanā' under the direction and guidence of most venerated Āchārya Śrī Vidyāsāgarajī, while observing his vows of tenth Pratimās.

It is the result of ceaseless effort, contemplation, reflection and hard work undertaken by Muni Śrī Abhayasāgarajī that the present treatise is in your hands. Muni Śrī Punītasāgarajī and Muni Śrī Kṣamāsāgarajī have reviewed English translation many a times and gave some very useful suggestions. On behalf of Maitrī Samūha, I bow

to the pious feet of Ācāryaśrī and the three Muniśrīs. I trust that their blessings would continue to be showered in future as well.

In preparation of this treatise, several others have also made significant contribution. We are grateful to all of them.

Maitrī Samūha was formed in the year 2001 with the blessings of Muni Śrī Kṣamāsāgarajī. Maitrī Samūha is a group of dedicated persons with noble thoughts & life-style. Every person of the group is free from all kinds of vices. The pious motto of the Samūha is to develop feelings of intimate mutual cooperation and self-less service. Modest attempt of each & every person of the group is to think high & sweet and do excellent. Maitrī Samūha is not a conventional institution like other institutions and is free from all organisational formalities. In the past, Maitrī Samūha contributed to some extent financial assistance to the needy students having excellent academic achievements. They were recognised and awarded for their excellence. Presently the group is engaged in publication of useful literature, undertaking group pilgrimage, group seminars and such other religious activities. It is with the same object that the present treatise in two volumes is being published. It is hoped that this would enable readers to grasp the fundamentals of Jaina philosophy and to make appropriate change in the life-style.

Tīrthaṅkara Abhinandahanātha Omniscience Day **Pannālāla Baināḍā**
Dated : 14-01-2014 (Maitrī Samūha)
1/205/IV, Professors Colony, Mob. 093581-52111
Harī Parvata, Āgarā-282 002 (U.P.)

सम्पादकीय

मध्यप्रदेश विद्युत मण्डल की सेवा में रहकर सन् १९९५ में मैंने अवकाश प्राप्त कर भोपाल में रहने का निश्चय किया। सर्विस के दौरान लगभग ३५ वर्षों में मैंने कुलाचार का भी ठीक ढंग से पालन नहीं किया और न मुझे धार्मिक कार्यों में कोई रुचि रही। शास्त्र-स्वाध्याय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इतना अवश्य है कि इन वर्षों में मैंने कभी अभक्ष्य भक्षण नहीं किया। मुनि धर्म में भी मेरी कोई श्रद्धा नहीं थी।

मुनि श्री क्षमासागरजी का सन् १९९७ का वर्षायोग भोपाल में होना निश्चित हो गया था। १२ जुलाई, १९९७ को श्री सुरेश जैन, आई.ए.एस. के साथ अनिच्छा से मैं लगभग ६० कि.मी. दूर एक छोटे वन-ग्राम में मुनिश्री के दर्शनार्थ पहुँचा था। उस दिन वहाँ कोई विशेष चर्चा नहीं हुई, लेकिन उनके दर्शन मात्र से मेरे मन में आत्म-कल्याण के लिये छटपटाहट शुरू हो गई। उस वर्षायोग में मुनिश्री ने अन्य कुछ डॉक्टर्स और इन्जीनियर्स के साथ मुझे भी जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त और 'छहढाला' पढ़ाई। वर्षायोग के पश्चात् मुनिश्री का भोपाल से विहार होने पर भी मैं निरन्तर उनके सम्पर्क में रहकर अध्ययन करता रहा और लगभग एक वर्ष पश्चात् 'तत्त्वार्थसूत्र' का अध्ययन शुरू किया। जो भी मुनिश्री पढ़ाते थे, उसे मैं टेप करता था और उसे समझने की कोशिश करता रहता था। इस बीच मुनिश्री ने मुझे 'ABC of Jainism' लिखने के लिये प्रोत्साहित किया और उनके निर्देशन में वह पुस्तक सन् १९९८ के बीना (सागर) म.प्र. वर्षायोग में विमोचित हुई। उसके पश्चात् लेखन का मेरा प्रयास निरन्तर चलता रहा और मुनिश्री का निर्देशन मुझे सतत मिलता रहा।

इस बीच उनकी प्रेरणा और निर्देशन में मैंने 'छहढाला' और 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' पर अंग्रेजी में टीकायें लिखीं। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी के प्रवचनों की 'प्रवचन पर्व' और 'प्रवचन पारिजात' पुस्तकों का अनुवाद भी अंग्रेजी में किया। ये सभी पुस्तकें 'मैत्री समूह' से प्रकाशित हुईं। मुनि श्री क्षमासागरजी के जयपुर में दिये गये प्रवचनों ('सोलहकारण भावना' एवं 'कर्म कैसे करें') के सम्पादन का भी सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। 'जीवन के अनसुलझे प्रश्न' पुस्तक उन सात प्रवचनों का संकलन है जिसे मैंने लगभग २०० कैसेट्स में से चुना है। किन्तु मुनिश्री

के प्रतिकूल स्वास्थ्य के कारण अध्ययन बहुत दिनों तक जारी न रह सका। लेकिन मेरे पुण्योदय से सन् २००६ में आरोन (गुना) म.प्र. वर्षायोग के पूर्व गुना में आचार्य श्री विद्यासागरजी के आदेशानुसार मुनि श्री अभयसागरजी उनके संघ में सम्मिलित हुए और उनके निर्देशन में मैंने 'द्रव्यसंग्रह' ग्रन्थ का अध्ययन किया तथा बाद में उनके निर्देशन में ही उस ग्रन्थ की हिन्दी और अंग्रेजी की टीका लिखकर 'मैत्री-समूह' ने उसे प्रकाशित किया। उसके पश्चात् उनके निर्देशन, प्रोत्साहन और प्रेरणा से मैंने 'तत्त्वार्थसूत्र' का अध्ययन और उसकी हिन्दी-अंग्रेजी टीकायें लिखना प्रारम्भ किया। मुनि श्री अभयसागरजी के अभीक्ष्ण ज्ञान का परिणाम ही प्रस्तुत ग्रन्थ है। मैं अपने आपको बहुत भाग्यशाली मानता हूँ क्योंकि मुनि श्री क्षमासागरजी एवं मुनि श्री अभयसागरजी के सान्निध्य में मेरे चिन्तन और जीवनचर्या में जो परिवर्तन हुआ, उसका सौभाग्य कम ही साधकों को मिलता है।

प्रस्तुत टीका तैयार करने में उपलब्ध हिन्दी-अंग्रेजी ग्रन्थों में दिगम्बर जैनाचार्यों और विद्वान् टीकाकारों के विचारों का ही संकलन है। मैं तो अत्यन्त अज्ञानी हूँ। संस्कृत का ज्ञान तो शून्य है। आचार्य श्री विद्यासागरजी का आशीर्वाद और मुनि श्री क्षमासागरजी द्वारा दिये गये धार्मिक संस्कार रूप बीजारोपण और उसे ही पल्लवित मुनि श्री अभयसागरजी द्वारा किये जाने के फलस्वरूप ही यह ग्रन्थ आपके हाथों में है।

भाषा अनुवाद कठिन कार्य है। फिर हिन्दी से अंग्रेजी में जैन ग्रन्थों का अनुवाद तो और भी कठिन है, क्योंकि जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दों का अंग्रेजी भाषा में अभाव है। इसलिये अनेक स्थानों पर हिन्दी एवं संस्कृत के शब्दों को अंग्रेजी में वैसा ही लिखना पड़ता है। उनके भाव को स्पष्ट करने के उद्देश्य से जहाँ सम्भव हुआ है सरल भाषा में उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मेरा विश्वास है कि पाठकों को उन शब्दों के भावों को समझने में सरलता होगी।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक अध्याय के विषय को समझने के लिये चित्र प्रो. (डॉ.) श्रीमती जया जैन, प्रोफेसर - कमला राजा कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर, म. प्र. ने बनाये हैं। मुझे आशा है ग्रंथ की उपयोगिता में ये चित्र भी उपयोगी सिद्ध होंगे। मैं उनका आभारी हूँ।

अंग्रेजी भाषानुवाद को मुनि श्री पुनीतसागरजी ने और मेरे मित्र विदिशा निवासी प्रो. पी. सी. जैन ने भी कई बार परीक्षण कर अत्यन्त उपयोगी सुझाव दिये हैं। मुनि

श्री को नमोस्तु निवेदित करते हुए उनका आशीर्वाद भविष्य में भी मुझे मिलता रहे, ऐसी वीर-प्रभु से प्रार्थना है।

प्रो. श्री पी. सी. जैन, विदिशा (म.प्र.) ने कई बार परीक्षण कर हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में प्रयुक्त शब्दों के अनुरूप अंग्रेजी शब्दों के चयन के जो सुझाव दिये हैं, उनसे अंग्रेजी अनुवाद को पाठक ठीक प्रकार से समझ सकेंगे, ऐसी आशा है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना प्राचार्य अरुणकुमार जैन, ब्यावर (राज.) (वर्तमान में सांगानेर, जयपुर में) ने लिखकर ग्रन्थ का अन्य दर्शनों और ग्रन्थ के विषय तथा इस ग्रन्थ के लिखने के कारणों को बहुत ही अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है, मैं उनका भी आभारी हूँ।

जैसा मैंने पूर्व में उल्लेख किया है, ग्रन्थ के सूत्रों को स्पष्ट करने के लिए मुनि श्री अभयसागरजी ने गत चार-पाँच वर्षों में प्रत्येक अध्याय की कई बार समीक्षा की है और अत्यन्त उपयोगी सुझाव दिये हैं। बिना इस प्रकार की समीक्षा के ग्रन्थ जिस रूप में है, वैसा तैयार करना असम्भव था। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी के आशीर्वाद, मुनि श्री क्षमासागरजी एवं मुनि श्री अभयसागरजी के अभीक्ष्ण ज्ञान के फलस्वरूप ही मैं इस संकलन को तैयार कर सका हूँ। उनका आशीर्वाद, प्रोत्साहन और प्रेरणा मुझे भविष्य में भी मिलती रहे, यही वीर-प्रभु से प्रार्थना है।

पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा ने भी इस ग्रन्थ की टीका की समीक्षा की है, कई उपयोगी सुझाव दिये हैं। अपनी व्यस्तता के बावजूद वे ग्रन्थ-प्रकाशन में अपना अमूल्य समय और निर्देशन देते रहे हैं, मैं उनका भी आभारी हूँ। श्री सुभाषचन्दजी जैन, अनिल इण्डस्ट्रीज, बीना (सागर, म.प्र.) ने भी इस ग्रन्थ के तैयार करने में सक्रिय सहयोग दिया है। ब्र. श्री संदीप 'सरल'- संस्थापक - अनेकान्त ज्ञान मन्दिर शोध संस्थान, बीना (सागर, म.प्र.) तथा ब्र. श्री डी. राकेश जैन, सिद्धायतन, महावीर नगर (सागर, म.प्र.) ने भी हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थ की टीकाओं की सूची उपलब्ध कराने में सक्रिय सहयोग दिया है। मैं इन सभी महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ।

मुनि श्री अभयकुमारजी महाराज ने आचार्य श्री उमास्वामी महाराज के कालक्रम से लेकर २१वीं शताब्दी तक के आचार्यों, मुनियों, आर्यिकाओं, क्षुल्लक महाराजों के साथ अनेक मनीषियों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी टीकाओं के आधार पर आलेखित ग्रन्थों, पुस्तकों का विस्तृत विवरण संगृहीत किया। उसे इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड के अन्त में तृतीय परिशिष्ट के रूप में सम्मिलित किया गया है।

इस ग्रन्थ को तैयार करने में अन्य अनेक महानुभावों ने सहयोग दिया है, उनमें बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के उप-पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. विवेकानन्द जैन, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ में जैन धर्म तथा तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन विभाग के सहायक प्राध्यापक डॉ. योगेशकुमार जैन, 'दिव्यध्वनि' पत्रिका के पूर्व सम्पादक अहमदाबाद (गुजरात) निवासी श्री प्रकाश डी. शाह तथा मुंगावली, अशोकनगर (म.प्र.) के श्री अंकित मोदी चन्देरी, अशोकनगर (म.प्र.) के श्री सचिन जैन और श्री नितिन जैन, खरगापुर (टीकमगढ़, म.प्र.) के सहयोग के लिये मैं उनका आभारी हूँ।

ग्रंथ के प्रकाशन में श्री पन्नालाल बैनाड़ा, आगरा; श्री राज प्रमोद शाह, जौहरी बाजार, जयपुर तथा जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर के श्री प्रमोदकुमार जैन ने कठिन परिश्रम कर इसे शीघ्र प्रकाशित करने में जो सहयोग दिया है, साथ ही जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, खण्ड-३ से अनेक चित्र संकलित कर यहाँ उनका उपयोग किया गया है, एतदर्थ मैं उन सभी का आभारी हूँ।

ग्रन्थ आपके हाथ में है। जैनदर्शन को ठीक-ठीक समझने और तदनुरूप श्रद्धान करने में यदि कुछ सहायता इससे पाठकों को मिले, तो मैं समझूँगा कि आचार्य श्री का आशीष और मुनित्रय का मार्गदर्शन तथा अन्य अनेक सहयोगीजनों का यह परिश्रम मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये सार्थक पहल है।

परमपूज्य आचार्यश्री और मुनित्रय के चरणों में कोटिशः नमोस्तु।

तीर्थङ्कर शान्तिनाथ केवलज्ञान दिवस — **एस. एल. जैन**
१० जनवरी, २०१४
श्रुतधाम
बीना, सागर (म.प्र.)

Editor's Note

After about 35 years service of Madhya Pradeśa Electricity Board, I retired in the year 1995 and settled at Bhopāla. During this period, I did not follow even the family-traditions nor I had any interest in religious learning. Question of studying religions scriptures did not arise. It is however to be stated that I strictly avoided consumption of 'Abhakṣya' throughout my life. I also had no liking in Jaina ascetic order.

It was confirmed that Muni Śrī Kṣmāsāgarajī would stay at Bhopāla for Cāturmāsa i.e. during the four-month period of rainy season in the year 1997. I travelled unwillingly about 60 km to a small forest village along with Śrī Sureśa Jaina, IAS on 12th July, 1997 to pay my obeisance to Muniśrī. On that day there was no specific interaction but merely presence of Muniśrī caused purturbance within my soul for attainment of inner purity. During these four months of rainy season, Muniśrī conducted a class for few doctors & Engineers. I also got benefit of his teaching along with a few Doctors & Engineers in respect of the fundamentals of Jaina-philosophy and 'Chahaḍhālā'. On completion of four month stay, Muniśrī moved from place to place but I continued visiting him to continue my learning. He taught me 'Tattvārthasūtra' after about one year. I used to tape-record all the lessons and tried to understand all that was being taught. During this period, Muniśrī encouraged me to write 'ABC of Jainism' book and under his guidance, the book was released formally during his stay for four-rainy months in the year 1998 at Bīnā (Sāgara, M.P.) Thereafter, work of writing continued unhindered and I was fortunate to get guidance, of Muniśrī. Under his guidance & direction, I prepared English version of 'Chahaḍhālā' (Self Enlightenment) and 'Ratnakaraṇḍaka Śrāvakācāra' (Practical Path) with detailed commentaries. English Translation of 'Pravacana Parva' (Preaching Paradise) & 'Pravacana Pārijāta' (Preaching Salvation) based on preachings of Reverend Ācārya Vidyāsāgarajī was also done. All these books were published by 'Maitrī Samūha. I was lucky to edit the preaching of Muni Śrī Kṣamāsāgarajī which were published based on

his sermon delivered in Jaipura, 'titled as Solahakāraṇa Bhāvanā' & 'Karma Kaise Karen'. A small book 'Jīvana Ke Anasulajhe Praśna' is a collection of seven preachings delivered by Munśirī. This collection I culled out of about 200 cassettes. But this work of learning and writing could not continue for long due to his health problems. During the year 2006, just prior to the commencement of rainy-season stay at Ārona (Gunā, M.P.), he was joined by Muni Śrī Abhayasāgarajī as per the directions of Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī. It was a fruition of my merit karmas that I got an opportunity to study & understand 'Dravya Saṁgraha' acriptural text. Later on, under his active guidance, the book was published by 'Maitrī Samūha' with both Hindī & English commentary. After that, on his encouragement, direction and goading, I started studying 'Tattvārtha- sūtra' and began writing comments in Hindī & English. The present composition is the result of the ceaseless pursuit of knowledge of Muni Śrī Abhayasāgarajī. I consider myself to be very lucky as very few persons get such opportunity for religious reorientation both in respect of acquisition of knowledge and life-style as I got under the guidance and direction of Muni Śrī Kṣamāsāgarajī and Muni Śrī Abhayasāgarajī.

While preparing comments, only interpretations available in the scriptures of Digambara sect written by eminent Ācāryas and learned authors have been adhered to. I am an ignorant one having no knowledge of Saṁskṛta language. This treatise presently with you is the result of the blessings of Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī and religious seed inculcated by Muni Śrī Kṣamāsāgarajī and frutified later by Muni Śrī Abhayasāgarajī.

Translation in itself is a difficult task. Translation of Jaina religious books in English is still more difficult as appropriate equivalent words of Jaina philosophy are not available in English language. As such at some places, we have to write Hindī/Saṁskṛta words in roman. Attempt however has been made to explain the underlying views of that particular term at some places. This, I believe would enable the reader to grasp those terms in a better way.

For imparting an idea of the subject of each chapter of Tattvārthasūtra, Prof. (Dr.) Smt. Jayā Jaina of Kamalā Rājā Girls College, Gwaliora (M.P.) has prepared sketches and the same are incorporated

in this treatise. I trust that these would benefit the reader to some extent. I am grateful to her.

English rendering of the text was reviewed several times by Muni Śrī Punītasāgarajī. I bow in gratitude to Muni Śrī Punītasāgarajī and pray for his continued shower of blessings. I am also grateful to my friend prof. P.C. Jaina of Vidiśā (M.P.) for his suggestions for using appropriate English equivalent words for Saṁskṛta and Hindī Jaina terms. I trust this would emmensely benefit the readers.

This treatise has been reviewed by Ex-Principal Aruṇa Kumāra Jaina of Byāvara (Raj.) (Prescently at Saṁgānera, Jaipura, Raj.). He has been kind to write the preface. I am grateful to him. He has given comparative importance of various philosophies and the importance of Tattvārthasūtra and the reasons that were responsible for writing this scripture in that period.

As I have mentioned earlier, Muni Śrī Abhayasāgarajī has reviewed the entire text several times during last four-five years and has given very useful suggestions. The present form of this treatise could not have been written without such a review by him. I have been able to write this Treatise only because of the blessings of Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī and the ceaseless pursuit of knowledge of Muni Śrī Kṣamāsāgarajī and Muni Śrī Abhayasāgarajī. I pray for continuous blessings, inspiration and guidance of these Great Monks in future as well.

Pd. Ratanalāla Bainā̤dā of Āgarā has also rendered some very useful suggestions after reviewing the text. Inspite of his busy schedules, he has been helping in printing & other associated works. I am grateful to him.

Śrī Subhāṣachanda Jaina, propritor of Anila Industries, Bīnā (Sāgara, M.P.) has extended his active support in review of this treatise. Br. Śrī Sandīpa 'Sarala'-founder of Anekānta Jñāna Mandira Sodha Saṁsthāna Bīnā (Sāgara, M.P.) and Br. Śrī D. Rakeśa Jaina founder of Siddhyatana', Mahāvira Nagara, Sāgara (M.P.) both have helped us in making a list of manuscripts and printed commentaries of Tattvārthasūtra available with them. I am grateful to both of them.

Many other persons have extended their help & cooperation in preparing this treatise. I would like to mention, in particular, the names of Dr. Vivekānanda Jaina, Deputy Liabrarian of Banārasa Hindu Viśvavidyālaya, Vārāṇasī, Dr. Yogeśakumāra Jaina, Astt. Prof. of Jainalogy & comparative Religions & Philosophy Dep. of Jaina Viśvabhāratī Viśvavidyālaya, Lāḍanū. Dist - Nāgaura, Raj., Śrī Prakaśa D. Śāha, Ex-editor of 'Dīvya-Dhvanī' magazine, Ahmedābāda, and Śrī Aṁkita Modī of Mungāvalī & Śrī Sacina Jaina, Canderī, Aśokanagara (M.P.), Śrī Nitina Jaina, Kharagāpura (Tīkamagarḍha, M.P.) who have extended needful assistance. I am grateful to all of them.

In the process of printing, help rendered by Śrī Pannālāla Benāḍā of Āgarā, Śrī Rāja Pramoda Śāha of Jouharī Bāzāra, Jaipura and Śrī Pramoda Kumar Jaina of Jaipura Printers, Jaipura is thankfully acknowledged.

This Treatise is now with you. If this helps you in acquisition of exact message of Jaina philosophy and accordingly in enhancing the faith thereof even to some extent, I would consider this as a reward for the work done by all of us in the path of salvation.

Once again offering Namostu in the pious feet of Āchāryaśrī and all the three Munis.

Tīthaṅkara Śāntinātha Omniscience Day **S. L. Jaina**
10-01-2014
Śrutadhāma
Bīnā, Sāgara (M.P.)

प्रास्ताविक

प्राचार्य अरुणकुमार जैन
(राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित)

गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी की सुप्रथित कृति 'तत्त्वार्थसूत्र' जैन वाङ्मय का संस्कृत भाषा निबद्ध आद्य सूत्र ग्रन्थ है। इस पुण्य ग्रन्थराज में समस्त जैन दार्शनिक सिद्धान्त निर्भ्रान्त रूप से व्यापक व निर्दोष अर्थ समन्वित अल्पाक्षर सूत्रों में इस प्रकार निबद्ध हैं कि यह 'गागर में सागर' उक्ति का साक्षात् निदर्शक बन गया है।

न्यायदर्शन में अक्षपाद गौतम के 'न्यायसूत्र' का जो स्थान एवं गरिमा है, और इसी प्रकार वैशेषिकदर्शन में कणादकृत 'वैशेषिकसूत्र' का, वेदान्तदर्शन में बादरायणकृत 'वेदान्तसूत्र' का, योगदर्शन में पतञ्जलिप्रणीत 'योगसूत्र' का जो गौरवपूर्ण स्थान है, वही महत्त्व और गौरव जैनधर्म और दर्शन में 'तत्त्वार्थसूत्र' का है। यह जैनधर्म की 'गीता' है, 'बाइबिल' और यही 'धम्मपद' है। जैनदर्शन के चारों सम्प्रदायों में यह किञ्चिद् भेद के साथ सर्वमान्य और समादृत भी है।

प्रस्तुत अल्पकाय ग्रन्थराज में सकल जैनागम के और दर्शन के समग्र तत्त्वों का सारभूत, सुसम्बद्ध एवं प्रामाणिक निबन्धन के कारण यह भगवान् महावीर की द्वादशाङ्गवाणीवत् जैनदर्शन का आधारस्तम्भ बन गया है।

ग्रन्थ के प्रथम सूत्र में आत्यन्तिक दुःख से मुक्ति के उपाय अर्थात् मोक्षमार्ग का वर्णन है और पूर्ण ग्रन्थ में उसी मोक्षमार्ग और तत्साधनभूत सप्त तत्त्वों का वर्णन करते हुए ग्रन्थ के चरम अध्याय में मोक्ष के स्वरूप का चित्रण होने से इसे समाज में 'मोक्षशास्त्र' भी कहा जाता है।

ग्रन्थ का महत्त्व इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि अनेक श्रद्धालु श्रावक-श्राविका प्रतिदिन या अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिवसों में इसका पाठ करते हैं, जो पाठ नहीं कर सकते वे इसका पाठ अन्य प्रबुद्ध बन्धुओं के मुख से श्रवण कर स्वयं को धन्य अनुभव करते हैं। तत्त्वार्थसूत्र की हस्तलिखित प्रतियों के ग्रन्थान्त में निम्न पद्य उपलब्ध होता है -

दशाध्याये परिच्छिन्ने, तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य, भाषितं मुनिपुङ्गवैः।।

अर्थात् दशाध्यायपर्यन्त पूर्ण तत्त्वार्थसूत्र का पाठ करने से एक उपवास के समान फल मिलता है, ऐसा मुनिपुङ्गवों ने कहा है।

ग्रन्थकर्त्ता

इस ग्रन्थ के कर्त्ता गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी ने गृद्धपिच्छाचार्य और उनके तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के नामोल्लेखपूर्वक एक सूत्र उद्धृत किया है - ''तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि ''वर्त्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य'' इदि दव्वकालो परूविदो।''[१] इसके अतिरिक्त आचार्य विद्यानन्दी (विद्यानन्द) ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार में ''एतेन गृध्रपिच्छाचार्य-पर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता'' लिखकर गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता होने की पुष्टि की है।[२]

तत्त्वार्थसूत्र की अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में निम्न पद्य भी उपलब्ध होता है -

तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्।।

इस पद्य में तत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता के रूप में गृद्धपिच्छ के साथ उमास्वामी नाम का भी उल्लेख मिलता है।

आचार्य वादिराज ने भी गृद्धपिच्छ की स्तुति करते हुए लिखा है कि ''आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी जिस प्रकार पक्षों का अवलम्बन लेते हैं, उसी प्रकार मोक्षरूपी नगर में जाने के लिए भव्य लोग जिन मुनीश्वर का अवलम्ब लेते हैं, उन महान् गुणों के धारक गृद्धपिच्छ आचार्य के लिए मेरा नमस्कार है।''[३]

श्रवणबेलगोला (हासन) कर्नाटक के एक अभिलेख में 'गृद्धपिच्छ' नाम पड़ने के कारण के साथ कुन्दकुन्द के शिष्य के रूप में उमास्वाति नाम भी आया है -

१. षट्खण्डागम, धवला टीका, जीवस्थान, काल अनुयोग द्वार, पुस्तक ४, पृ. ३१६
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार, पृ. ६
३. अनुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तम्।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः।। पार्श्वनाथचरित, १-१६

''अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे, वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं, शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन।।11।।''
''स प्राणिसंरक्षणसावधानो, बभार योगी किल गृद्ध्रपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तरगृद्ध्रपिच्छम्।।२२।।''[१]

इस शिलालेख के अतिरिक्त जैन शिलालेख सङ्ग्रह, प्रथम भाग के अभिलेख क्र. ४३ से भी गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा जिनप्रणीत समस्त शास्त्रार्थ जात–द्वादशाङ्गवाणी को सूत्रों में निबद्ध किये जाने का उल्लेख मिलता है। यही नहीं, अपितु श्रवणबेलगोला के अभिलेख सङ्ख्या ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० में भी तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम उमास्वामी या उमास्वाति मिलता है।

उक्त अनेक उल्लेखों में गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी को सकलार्थवेदी, श्रुतकेवलिदेशीय, मुनिपुङ्गव, यतीश आदि अनेक विरुदों के द्वारा स्मृत किया गया है।

अभिलेख सं. १५५ में तत्त्वार्थसूत्र के कर्त्ता का नाम उमास्वाति भी आया है तथा उनका द्वितीय नाम गृद्ध्रपिच्छाचार्य बतलाया गया है। यथा –

''श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम्।।१५।।
तस्यैव शिष्योऽजनि गृद्ध्रपिच्छद्वितीयसञ्ज्ञस्य बलाकपिच्छः।
.....।।१६।।''

इत्थं आचार्योक्तियाँ एवं प्राचीन शिलालेख इस तथ्य के प्रमाण हैं कि तत्त्वार्थसूत्र गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी या उमास्वाति की रचना है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थ पर कथित स्वोपज्ञभाष्य उमास्वामी की रचना नहीं है, अपितु सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद के बाद के किन्हीं अन्य आचार्य की रचना है। इस विषय में विस्तृत परिचय सर्वार्थसिद्धि की सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री लिखित प्रस्तावना, सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री के 'जैन साहित्य के इतिहास' एवं प्रो. डॉ. रतनचन्द्र जैन, भोपाल के 'जैन परम्परा और यापनीय संघ' आदि से जानना चाहिए।

१. जैन शिलालेख सङ्ग्रह, प्रथम भाग, अभि. सं. १०८

ग्रन्थकर्त्ता आचार्य गृद्धपिच्छ का काल

आचार्य गृद्धपिच्छ ने अपने विषय में कहीं कुछ भी नहीं लिखा, अतः उनके समय आदि निर्धारण के विषय में अनेक मनीषियों ने गहन शोध किया है। प्रो. हार्नले, डॉ. पिटर्सन और डॉ. सतीशचन्द्र ने नन्दिसंघ की पट्टावलि के आधार पर आचार्य गृद्धपिच्छ को ईसा की प्रथम शताब्दी का माना है।

इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में भगवान् महावीर के मोक्ष जाने के पश्चात् श्रुतधर आचार्यों की परम्परा दी है और उसके बाद अङ्ग-पूर्व के एकदेशधारी विनयधर, श्रीदत्त और अर्हद्दत्त का नामोल्लेख कर नन्दिसङ्घस्थापक अर्हद्बलि का नाम अङ्कित किया है। श्रुतावतार में माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबली के बाद कुन्दकुन्द का नाम आया है। यदि श्रुतधर आचार्यों के परवर्ती उक्त आचार्यों की समयावधि १०० वर्ष मानी जाए, तो कुन्दकुन्द का समय ७८३ वीर निर्वाण संवत् सिद्ध होता है, जो कि ईसा की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध का ठहरता है।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने गहन ऊहापोहपूर्वक आचार्य कुन्दकुन्द के समय का निर्णय किया है। उनके अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए हैं, आचार्य गृद्धपिच्छ उनके शिष्य हैं, अतः वे भी इसी काल के हैं।

लगभग सभी ऐतिहासिक गवेषक विद्वानों के मतानुसार तत्त्वार्थसूत्रकार का समय ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के मध्य का है।

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ

समस्त भारतीय शास्त्रकारों ने अपनी-अपनी विद्याओं का अन्तिम फल मोक्ष (पूर्ण मुक्ति) माना है। शास्त्र चाहे अर्थ, काम, ज्योतिष या सङ्गीत विषयक हों, उनका अन्तिम फल मोक्ष बताया गया है।

वैशेषिकसूत्र प्रणेता कणाद[1] ने पदार्थ विवेचन प्रस्तुत करते हुए उसे मोक्ष (अपवर्ग) का साधन बताया है। न्यायसूत्र के सूत्रकार गौतम[2] प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थों के ज्ञान द्वारा निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष-सिद्धि स्वीकार करते हैं। साङ्ख्यदर्शन में भी वर्णित प्रमुख तत्त्व पुरुष-प्रकृति के विज्ञान से मोक्ष प्राप्ति - आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति का निरूपण मिलता है।[3] भक्तिमार्गियों में भी जीव,

१. कणाद, वैशेषिकसूत्र १-१-४

२. न्यायसूत्र १-१-१ ३. ईश्वरकृष्ण, साङ्ख्यकारिका, २

जगत् और ईश्वर आदि विषयों के वर्णनपूर्वक भक्ति की पुष्टि द्वारा मोक्ष की प्राप्ति बतायी है। बौद्धदर्शन के चार आर्य-सत्यों के निरूपण का उद्देश्य मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

भारतीय तत्त्वविचारकों की परम्परा के अनुरूप तत्त्वार्थसूत्र वर्णित तत्त्वों के उपदेश का प्रमुक उद्देश्य मोक्ष ही है और ग्रन्थ का प्रारम्भिक सूत्र मोक्षमार्ग का ही निरूपक है एवं अन्तिम दशम अध्याय मोक्षस्वरूप-निरूपणार्थ समर्पित है। इत्थं तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसम्मत सप्त-तत्त्व के निरूपणपूर्वक मोक्षमार्ग वर्णन को अपना विषय अथवा प्रतिपाद्य बनाता है।

तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित विषयों का विवरण निम्नानुसार है -

विषय–विभाजन

तत्त्वार्थ के वर्ण्य विषय को आचार्य उमास्वामी ने दस अध्यायों में इस प्रकार विभाजित किया है - प्रथम अध्याय में ज्ञानमीमांसा या प्रमाणमीमांसा, द्वितीय से पञ्चम अध्याय पर्यन्त ज्ञेयमीमांसा या तत्त्वमीमांसा तथा षष्ठ से दशम अध्याय तक चारित्रमीमांसा वर्णित है।

ज्ञानमीमांसा/प्रमाणमीमांसा

''प्रमाणनयैरधिगमः''[1] तथा 'प्रमाणादर्थसंसिद्धिः'[2] के अनुसार प्रमाण और नय के बिना पदार्थ ज्ञान या तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है। अतः सर्वप्रथम आचार्य उमास्वामी ने प्रथम अध्याय में नय और प्रमाण के स्वरूप का विवेचन किया है। इसके अन्तर्गत यहाँ ज्ञान द्विविध हैं – प्रमाणरूपात्मक और नयरूपात्मक। ज्ञान के पाँच भेद यहाँ वर्णित हैं – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। तत्त्वार्थकार ने प्रारम्भिक दो ज्ञानों को परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत बताया है, यतः वे पर अर्थात् आत्मेतर इन्द्रियों पर आश्रित हैं तथा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणान्तर्गत स्वीकृत हैं, क्योंकि वे पराधीन/इन्द्रियाधीन नहीं हैं। यहाँ मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन बताकर उसके ३३६ भेदों का वर्णन भी उपलब्ध है। अनन्तर श्रुतज्ञान एवं आगमज्ञान का वर्णन है। अनन्तर प्रत्यक्षान्तर्गत अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान आदि का स्वरूप, भेद और पारस्परिक अन्तर वर्णित है। पाँच ज्ञानों का तारतम्य बतलाते हुए उनके विषय और उनकी विषय

1. तत्त्वार्थसूत्र, अ. 1, सूत्र 6
2. परीक्षामुख, मङ्गलाचरण कारिका

सीमा का वर्णन है। मिथ्यादर्शन के कारण प्रारम्भिक तीन ज्ञान भ्रमात्मक या विपर्यय बताये गये हैं। उन्मत्त पुरुष के ज्ञान के उदाहरण द्वारा उक्त की सिद्धि की गयी है। अध्याय के अन्त में जैनागम वर्णित द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का विस्तार कर नैगम, सङ्ग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत के रूप में सात नयों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त जीवादिक द्रव्यों के जानने की विधि के रूप निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान एवं सत्, सङ्ख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व आदि अनुयोगद्वारों का वर्णन सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुरूप यहाँ वर्णित है।

विशेष

'प्रवचनसार' ग्रन्थ में भी ज्ञानमीमांसा वर्णित है, परन्तु यहाँ वैशिष्ट्य यह है कि यहाँ ज्ञान के सम्पूर्ण भेद-प्रभेद और विषय के साथ ज्ञान और अज्ञान के मध्य भेद का भी निरूपण है तथा ज्ञानमीमांसा को प्रमाणपुरस्सर बनाने का उपक्रम भी उपलब्ध है। न्यायदर्शन[1] और बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह तत्त्वार्थसूत्र के दर्शन में अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के वर्णन से तुलनीय है। तत्त्वार्थसूत्र वर्णित प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण व तदन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम (श्रुत) प्रमाणों के निरूपण द्वारा विविध दर्शनों के साथ समन्वय के द्वार उद्घाटित होते हैं। बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान के भेद से दो, साङ्ख्यदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द के भेद से तीन, न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के भेद से चार तथा मीमांसादर्शन में छह प्रमाणों का वर्णन मिलता है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम अध्याय विविध भारतीय दर्शनों में पारस्परिक वैचारिक आदान-प्रदान, तात्त्विक मन्थन की सामग्री के साथ सामाजिक और दार्शनिक समन्वय के बीज देता है।

ज्ञेयमीमांसा (तत्त्वमीमांसा)

जीव – जैनदर्शन के अनुसार सात तत्त्व स्वीकृत हैं। उन सातों में प्रधानभूत जीव ही है, वही उपादेय, ज्ञेय और ध्येय है, क्योंकि आस्रव और बन्ध उसी के होता है तथा संवर और निर्जरा का अधिकारी भी वही है, जो मोक्ष (आत्यन्तिक

१. न्यायसिद्धान्त मुक्तावलि, कारिका ५२ से ५५

दुःख-निवृत्ति एवं अव्याबाध सुख-प्राप्ति) के हेतु हैं। अतः द्वितीय अध्याय में जीव का लक्षण, भेद-प्रभेद एवं संसारी जीवों की इन्द्रियाँ, मृत्यु और जन्म के मध्य में स्थित विग्रहगति, जन्मों के प्रकार, शरीरों के औदारिकादि भेदों का वर्णन व तारतम्य आदि का प्रामाणिक, सटीक और सङ्क्षिप्त वर्णन किया गया है।

अकालमृत्यु – द्वितीय अध्याय के अन्त में अपवर्त्यायुष्क और अनपवर्त्यायुष्क पात्र जीवों का वर्णन है, जिसके अनुसार औपपादिक (नारक और देव), चरमोत्तम शरीरी, असङ्ख्यात वर्ष की आयु वाले (भोगभूमियाँ) जीव अनपवर्त्यायुष्क हैं अर्थात् उक्त जीवों की आयु की स्थिति के पूर्ण होने से पूर्व मरण सम्भव नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्य कर्मभूमियाँ साधारण मनुष्य और तिर्यञ्चों के अपनी आयु की स्थिति से पूर्व विषभक्षण, शस्त्रघात आदि निमित्तों से आयु का व्युच्छेद हो सकता है।

तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय के अन्तिम सूत्र द्वारा औपपादिक आदि जीवों का नियमन कर बताया गया है कि उक्त जीवों के अतिरिक्त अन्य जीवों के अकालमरण सम्भव है। भगवती आराधना[1], भावपाहुड[2] आदि ग्रन्थों से भी तत्त्वार्थमान्यता का पूर्ण समर्थन प्राप्त होता है। अकालमृत्यु-विषयक विवाद के चलते तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय का अन्तिम सूत्र एवं उसकी टीकाएँ/व्याख्याएँ अत्यन्त प्रासङ्गिक हैं तथा उक्त प्रसङ्ग में समाधान की दिशा देती हैं।

तृतीय अध्याय में नारकी जीवों का वर्णन है। उनके निवास वर्णन के प्रसंग में अधोलोक का अतिसङ्क्षिप्त वर्णन है, जिसका विस्तार हम तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में देख सकते हैं। इसी अध्याय में नारकी जीवों के शरीर, लेश्या, कषाय और दुःखादि का सूत्रात्मक वर्णन है।

मनुष्य–तिर्यञ्च जीव व मनुष्य लोक

तृतीय अध्याय में ही मनुष्य, तिर्यञ्चों का वर्णन करते हुए मध्यलोक तथा तत्रस्थ द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्रादि का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है, जिसे हम जैन भूगोल कह सकते हैं। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र तत्त्व निरूपण के माध्यम से जैन भूगोल का प्रतिपादक भी है।

---

१. भगवती आराधना, गाथा ८३०

२. भावपाहुड, गाथा २५, २६

यहाँ विशेष यह कि तत्त्वार्थसूत्र व अन्य जैन करणानुयोग के ग्रन्थों में जो भौगोलिक एवं खगोलीय चर्चा मिलती है, वह शाश्वत भूगोल की है। इसी कारण आधुनिक भूगोल से समानता नहीं मिल पाती है। तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कालचक्र का परिवर्तन तथा उसमें वृद्धि और ह्रास होता रहता है।[1] इस परिवर्तन चक्र के कारण भौगोलिक स्थिति में भी परिवर्तन होता रहता है। उक्त दोनों क्षेत्रों में भोगभूमि से कर्मभूमि और कर्मभूमि के बाद भोगभूमि का प्रवर्तन होता है। भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारम्भ से लेकर प्रलय काल तक पृथ्वी एक योजन ऊपर उठ जाती है, इस कारण वह गोल दिखायी पड़ती है और अनेक क्षुद्र पर्वतों व उप समुद्रों की रचना हो जाती है। इसी कारण शास्त्रवर्णित शाश्वत भूमि आदि वर्णन से आधुनिक भूगोल का मेल नहीं खा पाता है। इस विषय में विशेष अनुसन्धान और अनुशीलन की अपेक्षा है। मेरा स्पष्ट मत है कि जिस प्रकार जल और वनस्पति में जीवत्व दीर्घकालीन अन्वेषण से आज विज्ञानमान्य हुआ है, उसी प्रकार अन्य वर्णन भी विज्ञान-सम्मत हो सकेंगे, यतः विज्ञान बाह्य प्रयोगाश्रित है और जैनागम विचार केवली भगवान् के आत्माश्रित, केवलज्ञान आधारित।

देवगति के जीव और ऊर्ध्वलोक

तत्त्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय में देवगति के जीवों के निकाय, भेद-प्रभेद, लेश्या, इन्द्र, स्थिति (आयु), प्रभाव, सुख, द्युति, गमनागमन सामर्थ्य, परिग्रह आदि का जैनागम-सम्मत अत्यन्त विशद चित्रण है। जैनदर्शन के अनुसार भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से देवों के चार निकाय माने गये हैं। ये देवगण दिव्य शक्तियों, प्रभाव, सुख, गमनागमन सामर्थ्य और विक्रिया के कारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हैं, परन्तु मोक्षप्राप्ति के लिए आवश्यक संयम, तप आदि में अक्षम होने से मनुष्यों से हीन हैं।

पञ्चम काल की बलिहारी है कि आज अनेक अज्ञानी व्यक्ति इनकी पूजा-प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उन्हें समझना चाहिये कि देवगति के जीव भी अपने कर्मों का फल भोगने को बाध्य हैं और दुःखनिवृत्ति अर्थात् मोक्षमार्ग पर चलने में असमर्थ हैं। इनकी पूजा जैनागम विरुद्ध है।

---

१. भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्, तत्त्वार्थसूत्र, ३/२७

अजीव द्रव्य

जैनदर्शन में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य अजीव तत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। इन पाँच अजीव द्रव्यों का अत्यन्त सटीक विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के पञ्चम अध्याय का प्रतिपाद्य है।

जैनदर्शन के अनुकूल तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य का लक्षण सत् कहा है तथा सत् की परिभाषा करते हुए ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' सूत्र प्रयुक्त कर जैनदर्शन का हार्द प्रकट कर दिया है। उत्पाद और व्यय नामक धर्म (स्वभाव) के कारण द्रव्य अनित्य और ध्रौव्य धर्म के कारण नित्य माना गया है।

जैनदर्शन मान्य द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता को पतञ्जलि (योगदर्शन)[१] तथा मीमांसादर्शन के आचार्य कुमारिल भट्ट[२] ने भी स्वीकार किया है।

तत्त्वार्थसूत्र वर्णित पुद्गल द्रव्य विवेचन विज्ञान के मेटर (Matter) से बहुत कुछ साम्य रखता है। विशेष यह कि पुद्गल के भेद रूप में वर्णित जैनदर्शन का अणु सर्वथा अविभाज्य, निरंश और अभेद है, जबकि आधुनिक विज्ञान में वर्णित परमाणु में प्रोटॉन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन प्राथमिक कण माने गये हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के पञ्चम अध्यायगत धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का स्वरूप आधुनिक विज्ञान को अध्ययन, अन्वेषण के लिए भूमिका प्रदान करने में सक्षम है।

चारित्र या आचारमीमांसा

वैशेषिक, न्याय और साङ्ख्यदर्शन के समान जैनागम में मात्र ज्ञान से मुक्ति नहीं मानी है। यहाँ सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान के साथ चारित्र का समवाय ही मुक्ति या मोक्ष का उपाय कहा है। अतः चारित्र के अन्तर्गत कौन-कौनसी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, हेय प्रवृत्तियों के सेवन करने का क्या परिणाम होता है, हेय प्रवृत्तियों के त्याग का क्रम और उपाय क्या है और इनके बजाय कैसा आचरण (प्रवृत्तियाँ) अङ्गीकार किया जाय तथा करणीय आचरण से किस प्रकार आत्मा का विकास होता है आदि चारित्र का साङ्गोपाङ्ग विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठ अध्याय से दशम

१. द्रव्यं नित्यं आकृतिरनित्या।.....आकृतिरन्या च अन्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव.....।
पातञ्जलमहाभाष्य, १-१-१

२. न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थं तेन सामान्यनित्यता।। - मीमांसाश्लोकवार्तिक, पृ. ६१०

अध्याय तक निरूपित है। यहाँ उक्त वर्णन आस्रव तत्त्व, पुण्यास्रव तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व के अन्तर्गत आता है।

षष्ठ अध्याय में आस्रव का स्वरूप, उसके भेद तथा किस-किस आचरण/प्रवृत्तियों से किस-किस कर्म का आस्रव और बन्ध होता है, वर्णित है। षष्ठ अध्याय में आस्रव वर्णन होने पर भी सप्तम अध्याय में पुण्यास्रव के अन्तर्गत व्रत का स्वरूप, व्रतधारण के स्वामियों के भेद, व्रतों की स्थिरता के उपाय, हिंसादि दोषों के लक्षण, व्रतों में सम्भाव्य दोष (अतिचार), दान का स्वरूप व तारतम्य आदि का वर्णन किया गया है।

अष्टम अध्याय में कर्मबन्ध के हेतु और कर्मबन्ध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग रूप चार भेदों व उनके उपभेदों का वर्णन किया गया है।

नवम अध्याय में संवर स्वरूप, उसके उपाय, भेद-प्रभेद और निर्जरा व उसके उपायों का वर्णन किया गया है।

दशम अध्याय में केवलज्ञान के उपाय और मोक्ष के स्वरूप का और मोक्षप्राप्त जीवों को जानने के अनुयोगों का चित्रण है।

उक्त विवेचन में विशेषता यह कि प्रवचनसार, समयसार आदि में जो चारित्र वर्णित है, वह साधु की दशा के अनुसार है तथा वहाँ व्यवहार-नय उपेक्षित-सा ही है, जबकि तत्त्वार्थ में आगत आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा आदि का वर्णन व्यवहार-नय के आधार से क्रमिक और अधिक विशद है।

जैनदर्शन का मोक्ष न्याय, वैशेषिक, योग और बौद्धदर्शन की तरह दुःखनाश मात्र अभावात्मक नहीं है, अपितु अनन्तज्ञान, अनन्तसुखादिरूप अनन्तचतुष्टय युक्त आत्मा की स्वाभाविक शुद्ध दशा का नाम मोक्ष है।

परमशुद्ध मोक्षप्राप्त आत्मा लोक के अग्रभाग में स्थित होता है। यहाँ प्रश्न उठाया है कि आत्मा का गमन और आगे क्यों नहीं होता ? उसके समाधानार्थ ''धर्मास्तिकायाभावात्'' सूत्र के द्वारा आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि जीव ऊर्ध्वगमनस्वभावी है, अष्टकर्मबन्धन से मुक्त होने से अनन्तवीर्य का स्वामी भी है, परन्तु धर्मास्तिकाय द्रव्य का साहाय्य नहीं मिलने से मुक्त जीव लोकान्त से आगे गमन नहीं कर सकता है। पूर्ण शक्तिमान् जीव भी जब ऊर्ध्वगमन में

निमित्ताधीन है, तो कर्मबद्ध संसारी जीवों के लिये निमित्त अकिञ्चित्कर कैसे हो सकता है? तत्त्वार्थसूत्र वर्णित विषय मतिभ्रम निवारण में पूर्ण समर्थ है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में पूर्ण रत्नत्रयी मोक्षमार्ग एवं सप्त तत्त्व का वैज्ञानिक, क्रमबद्ध व सुसङ्गत निरूपण किया है तथा उसके आश्रय से सकल जैनागमरूपी सागर लघुकाय ग्रन्थ में समाहित हो गया। तत्त्वार्थ का कोई ऐसा विषय नहीं, जो जैनागम पर आधारित न हो तथा द्वादशाङ्ग जिनवाणी में ऐसा कोई विषय नहीं, जो तत्त्वार्थसूत्र में न हो, अतः कहा जा सकता है -

''यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।''

अर्थात् जो कुछ तत्त्वार्थ में है, वही अन्य ग्रन्थों में है और जो तत्त्वार्थसूत्र में नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं। अतः मेरा मत है कि सम्पूर्ण जैन सिद्धान्त, दर्शन, चारित्र अथवा चारों ही अनुयोगों का दिग्दर्शन एक ही ग्रन्थ में करना हो, तो तत्त्वार्थसूत्र का स्वाध्याय करें।

तत्त्वार्थसूत्र का आधार या स्रोत

ग्रन्थराज तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सप्ततत्त्व व मोक्षमार्ग का जो विवेचन प्रस्तुत है, उसका आधार क्या है? इस जिज्ञासा की उपस्थिति होने पर ज्ञातव्य है कि वर्तमान सम्यक् श्रुत का आविर्भाव तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की वाणी से हुआ है, वह श्रुत द्वादशाङ्ग में विभाजित है। उस द्वादशाङ्गवाणी के सम्प्रति उपलब्ध अंश षट्खण्डागम के रूप में उपलब्ध है। उक्त आगम ग्रन्थों में वर्णित विषयों को तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में इस वैज्ञानिक रीति से सँजोया है कि यह ग्रन्थ श्रद्धालुओं का कण्ठहार बन गया और द्वितीयतः जैनेतर विचारशील पाठकों के लिए प्रामाणिक सन्दर्भ कोश। तत्त्वार्थ वर्णित एक-एक विषय जैनागम के अनुसार शब्द पर्याय रूप में और भावों को लेकर सूत्रबद्ध किया गया है। तत्त्वार्थवर्णित सकल विषय की तुलना के ज्ञान के लिए पूज्य मुनि श्री प्रबुद्धसागरजी महाराज (शिष्य : सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी महाराज) रचित तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या 'सत्यार्थ दर्शन' के प्रथम भाग की प्रस्तावना द्रष्टव्य है। प्रस्तावना में मुनिश्री ने तत्त्वार्थसूत्र के विविध स्थलों (सूत्रों) से धवला, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय,

अष्टपाहुड, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि ग्रन्थों के उद्धरण प्रस्तुत कर साम्य दिखलाया है।

तत्त्वार्थसूत्र रचना का उद्देश्य

तत्त्वार्थसूत्र से पूर्ववर्ती ग्रन्थ षट्खण्डागम, कषायपाहुड, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थों में जैनदर्शन का सर्वस्व गुम्फित था तो तत्त्वार्थसूत्र लेखन का क्या प्रयोजन था?

इसका समाधान है कि आचार्य उमास्वामी के समय तक आते-आते दर्शन जगत् में संस्कृत भाषा पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त कर चुकी थी, एवं संस्कृत भाषा में ग्रन्थ निबन्धन विद्वत्ता का निकष माना जाने लगा था। अतः जैन पाठकों के अतिरिक्त सर्वदर्शन के जिज्ञासुओं के मध्य जैन सिद्धान्तों को प्रामाणिकता के साथ रखकर विद्वत्समुदाय में जैनत्व का लोहा मनवाने हेतु सूत्रकार ने अपना ग्रन्थ प्रस्तुत किया।

उमास्वामी से पूर्व व्याकरणशास्त्र के मान्य ग्रन्थ अष्टाध्यायी की सूत्रबद्ध रचना हो चुकी थी, तथा ग्रन्थकार के सामने कणाद का वैशेषिकसूत्र, बादरायण का ब्रह्मसूत्र, पतञ्जलि का योगसूत्र आ चुका था। उस युग में लगभग सभी दर्शनों के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ सूत्र ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी और वे विद्वानों में मान्य भी हो चुके थे, अतः तत्कालीन परिस्थितियों और परम्परा पालनार्थ ग्रन्थकार आचार्यश्री ने सकल जैनाभिमत को एक ग्रन्थ में सूत्ररूप में निबद्ध कर दिया।

जैनागम में विविध विषय हैं, कोई विषय किसी ग्रन्थ में तो कोई विषय कहीं और, अतः विविध ग्रन्थों में विकीर्ण विषय को एकत्र, सुसम्बद्ध, क्रमबद्ध, वैज्ञानिक रीति से प्रस्तुत करना तत्त्वार्थसूत्रकार का अभीष्ट है। ग्रन्थ की सङ्क्षिप्तता इससे जानी जा सकती है कि एक अन्तर्मुहूर्त में सकल ग्रन्थ का शुद्ध पारायण किया जा सके।

तत्त्वार्थसूत्र की टीकाएँ

सकल जैन वाङ्मय में सर्वाधिक टीका और व्याख्याएँ लिखा जाने वाला एकमात्र ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र है। अतिविस्तृत जैनागम के तत्त्वों को मात्र 357 सूत्रों में ग्रथन साहित्य जगत् की एक अपूर्व घटना है। सूत्र ग्रन्थ होने के साथ अत्यन्त

प्रामाणिक और समादृत होने के कारण इस ग्रन्थ पर अद्यावधि टीकाएँ लिखी जा रही हैं।

सर्वप्रथम प्रखर तार्किक प्रभावी आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'गन्धहस्ति-महाभाष्य' नामक अत्यन्त विशाल टीका लिखी थी, जो हमारे दुर्भाग्य से आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसके उल्लेख विविध ग्रन्थों में मिलते हैं।

पूज्य आचार्य पूज्यपाद ने अतिप्रामाणिक तथा सूत्रागत शब्दों को सर्वमान्य लक्षण प्रस्तुत करने वाली 'सर्वार्थसिद्धि' नामक वृत्ति की रचना की। सूत्रों में किञ्चित् परिवर्तन के साथ 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' नाम श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य भाष्य लिखा गया। श्वेताम्बरीय मान्यतानुसार उक्त भाष्य स्वोपज्ञ है, जिसका निरसन डॉ. पं. नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा', सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने 'जैन साहित्य का इतिहास', पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने 'सर्वार्थसिद्धि' की प्रस्तावना तथा प्रोफे. डॉ. रतनचन्द्र जैन, भोपाल ने 'जैन परम्परा और यापनीय संघ' में किया है।

अपनी प्रबल युक्तियों से बौद्ध दार्शनिकों को परास्त करने वाले महावादी आचार्य अकलङ्कदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' नामक वार्तिकग्रन्थ (व्याख्या समन्वित) रचा।

'तत्त्वार्थभाष्य वृत्ति' आचार्य सिद्धसेन गणी द्वारा रचित है, जो श्वेताम्बर-मान्य पाठ पर आधारित है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने उमास्वामीकृत सूत्रों पर 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालङ्कार' नामक विशिष्ट ग्रन्थ रचा, जिसमें पद्यात्मक वार्तिक तथा उस पर प्रामाणिक भाष्य भी लिखा। उक्त महनीय वार्तिक, वृत्ति, भाष्यों के अतिरिक्त आचार्य अमृतचन्द्र सूरि का 'तत्त्वार्थसार' (पद्यात्मक), आचार्य प्रभाचन्द्र की 'तत्त्वार्थवृत्तिपदम्', भास्करनन्दिकृत 'सुखबोधवृत्ति', भट्टारक श्रुतसागरकृत 'तत्त्वार्थवृत्ति', आचार्य हरिभद्रकृत 'हारिभद्रीयवृत्ति' आदि आज विशाल टीका साहित्य उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त प्रकृत ग्रन्थराज पर अनेक टीकाओं के नाम विविध ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनमें से कुछ आज कालकवलित हो चुके हैं।

ग्रन्थराज तत्त्वार्थसूत्र पर उक्त संस्कृत टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी, मराठी, कन्नड़, तमिल आदि विशाल टीका/व्याख्या साहित्य लिखा गया है। तत्त्वार्थसूत्र को अन्तरराष्ट्रीय पाठकों तक पहुँचाने के लिए जे.एल. जैनी ने

'Tattvarthādhigam Sūtra' शीर्षक से, एस. ए. जैन ने 'Reality' नामक, डॉ. नथमल टाटिया ने 'That which is' नाम से, डॉ. दुलीचन्द्र जैन ने 'Tattvārtha Sūtra' नाम से, डॉ. नन्दलाल जैन ने पृथक्-पृथक् अध्यायों पर 'Biology in Jain treatise on Reals', 'Jaina Karmology' तथा Jaina World of Nonliving नाम से अङ्ग्रेजी भाषा में व्याख्याएँ लिखकर तत्त्वार्थसूत्र की व्यापकता और जनप्रियता में चार चाँद लगाये हैं।

हिन्दी भाषा में पं. सदासुखदासजी की 'अर्थप्रकाशिका', पं. सुखलाल संघवी का 'तत्त्वार्थसूत्र', आचार्य ज्ञानसागर महाराज का 'तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र की तत्त्वार्थदीपिका टीका', सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द शास्त्री का 'तत्त्वार्थसूत्र', सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री एवं पं. पन्नालाल साहित्याचार्य की 'मोक्षशास्त्र' हिन्दी टीका, आचार्य कनकनन्दी का 'स्वतन्त्रता के सूत्र', मुनि श्री प्रबुद्धसागर का 'सत्यार्थ दर्शन' आदि हिन्दी टीकाएँ उल्लेखनीय हैं।

तत्त्वार्थसूत्र पर लिखित समस्त टीकाओं का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं। इस कार्य के लिए व्यापक सर्वेक्षण एवं अनुशीलन की आवश्यकता अपेक्षित है। अनुमानतः प्रकृत ग्रन्थ पर संस्कृत, हिन्दी, कन्नड़, तमिल, मराठी, गुजराती तथा अङ्ग्रेजी भाषा में द्विशताधिक टीकाएँ लिखी गयी हैं।

प्रस्तुत द्विभाषीय टीका

ग्रन्थराज पर अनेक टीका-व्याख्या ग्रन्थों के उपरान्त एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जिसमें अङ्ग्रेजी के साथ हिन्दी और हिन्दी के साथ अङ्ग्रेजी भी हो। अतः सन्त शिरोमणि पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के शुभाशीषपूर्वक, पूज्य मुनिवर अभयसागरजी महाराज के गहन-विद्वत्ता-समन्वित सूक्ष्म निर्देशन में तत्त्वार्थसूत्र का द्विभाषी (Bilingual) टीकायुक्त संस्करण, हिन्दी और अङ्ग्रेजी भाषाओं पर अधिकार रखने वाले तथा जैन शास्त्रों के अभ्यासी, सरलमना विद्वान् श्री एस.एल. जैन, सेवानिवृत्त कार्यपालक निदेशक-मध्यप्रदेश विद्युत मण्डल ने प्रस्तुत कर जैनशासन की प्रभावना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। आपने इससे पूर्व ABC of Jainism को अङ्ग्रेजी में सम्पादित कर छहढाला, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, द्रव्यसङ्ग्रह, प्रवचन पर्व, प्रवचन पारिजात आदि अनेक ग्रन्थों/पुस्तकों के अङ्ग्रेजी अनुवाद के साथ सुन्दर संस्करण प्रस्तुत किये हैं, जो जिज्ञासु सुधी जगत् में प्रशंसित हुए हैं।

किसी भी भाषा में लिखित ग्रन्थ के याथातथ्य भाव को अन्य भाषा में अनुवाद या रूपान्तरण अत्यन्त दुरूह एवं जटिल कार्य है, क्योंकि एक भाषा में ध्वनित भाव का ज्यों का त्यों व्यक्तीकरण में अन्य भाषा सक्षम नहीं है। तथापि श्री एस. एल. जैन ने सन्तशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की आशीःशक्ति एवं जिनवाणी-प्रसारक, नाना उपक्रमों में कुशल योजक एवं प्रेरक पूज्य मुनिवर श्री अभयसागरजी महाराज और जैनागम के तलस्पर्शी अध्येता तथा करणानुयोग के शीर्षस्थ विद्वान् पं. श्री रतनलाल बैनाड़ा के सारस्वत-निर्देशन, साहाय्य व निजी अनवरत अभ्यास के बल पर न केवल चुनौती स्वीकार की, अपितु इस कङ्टकाकीर्ण पथ को साफल्य के साथ पार भी किया है। ग्रन्थराज के हार्द को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने में जैनागम के आधुनिक वैज्ञानिक व्याख्याता व भावप्रवण कवि मुनिवर श्री क्षमासागरजी महाराज व मुनिवर श्री पुनीतसागरजी महाराज का भी दिशानिर्देश प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत संस्करण में अंग्रेजी के साथ हिन्दी अनुवाद के समावेश से ग्रन्थ की महिमा और भी ज्यादा बढ़ गयी है, क्योंकि जहाँ कहीं अङ्ग्रेजी भाषा द्वारा भावबोध में काठिन्य हो अथवा साहाय्य अपेक्षित हो, वहाँ तत्काल उपस्थित हिन्दी अनुवाद से सहज-समाधान सम्भव हो सकेगा। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषाविद् पाठकों को भाषायी तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित हो अथवा अन्य भाषाभाषी को तत्त्वार्थ का भाव भासित कराना हो, तो उन्हें भी यह द्विभाषी (Bilingual) संस्करण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकेगा।

प्रस्तुत संस्करण का वैशिष्ट्य

तत्त्वार्थसूत्र पर जे. एल. जैनी की अङ्ग्रेजी टीका में तत्त्वार्थसूत्र का सामान्य अर्थ मात्र विवेचित है। एस.ए. जैन द्वारा Reality नामक अङ्ग्रेजी टीका सर्वार्थसिद्धि का अनुवाद या रूपान्तरण मात्र है। डॉ. दुलीचन्द्र जैन एवं डॉ. नन्दलाल जैन द्वारा प्रकाशित अङ्ग्रेजी अनुवाद में वैज्ञानिक विषयों का अच्छा तुलनात्मक विवेचन दृष्टिगोचर होता है। डॉ. नथमल टाटिया द्वारा 'That which is' नामक अङ्ग्रेजी टीका श्वेताम्बर मान्य तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पर आधारित है, अतः अंग्रेजी में ऐसे साङ्गोपाङ्ग संस्करण की आवश्यकता थी, जो तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि के साथ प्रखर दार्शनिक आचार्य अकलङ्कभट्ट

के तत्त्वार्थवार्तिकगत स्पष्टीकरणों से समन्वित हो। प्रस्तुत टीका का यही वैशिष्ट्य है कि उक्त अपेक्षाओं पर यह खरी उतरती है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र के सकल विषयों को उक्त दोनों आचार्यों के सैद्धान्तिक और दार्शनिक मन्तव्यों के साथ खोला (प्रकाशित किया) गया है।

प्रकृत टीका में सूत्र के शब्दों का हिन्दी और अङ्ग्रेजी में शब्दार्थ, फिर सूत्रार्थ और अनन्तर उभय भाषा में विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अतः प्रस्तुत टीका गुरु अपेक्षा के बिना स्वयंशिक्षक बन पड़ी है।

टीका में निम्न विषयों को विशेष रूप से समझाया गया है, ऐसा किसी एक ही ग्रन्थ में पहले देखने में नहीं आया। यथा -

प्रथम अध्याय के द्वितीय सूत्र की टीका में सम्यग्दर्शन के भेदों के साथ आगमोक्त क्षयोपशम आदि लब्धियों का स्वरूप समझाकर, पाठकों की भ्रान्तियों का निवारण किया है।

''सत्संख्या.....'' सूत्र 1/8 को सङ्क्षिप्त रूप में, परन्तु प्रामाणिकता के साथ स्पष्ट किया गया है।

सूत्र 1/20 की टीका में श्रुतज्ञान के भेदों को सरलतापूर्वक विवेचित किया गया है। इसी प्रकार सूत्र 1/21-22 में अवधिज्ञान के उभयभेद विवेचित हैं।

सूत्र 1/23 में मनःपर्यय ज्ञान की विवेचना में धवला आदि ग्रन्थों का आधार लिया है।

नैगम आदि नयों का स्वरूप जैनदर्शन की अनुपम देन है। इस जटिल विषय के प्रतिपादन में लेखक का ही निरूपणकौशल है कि विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

जीव के पाँच असाधारण भावों का निरूपण टीका में उदाहरणों के माध्यम से हस्तामलकवत् खुलासा किया गया है।

पाँच शरीरों के वर्णन के अन्तर्गत आहारक शरीर की विशेषताओं का विवेचन (सूत्र 2/49) टीका के माहात्म्य का वर्द्धक है।

भरत-ऐरावत क्षेत्रों में काल परिवर्तन (सूत्र 3/27) एवं वृद्धि-ह्रास को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

जैन करणानुयोगान्तर्गत गणित के अङ्ग पल्य-सागर आदि के प्रमाण निकालने की विधि (सूत्र 3/38) विधिवत् वर्णित है।

प्रायः सभी टीकाओं में संवर और संवर के प्रत्ययों का वर्णन तो मिलता है, परन्तु किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का संवर होता है, इस विषय में प्रायः अन्य टीकाएँ मौन हैं। प्रस्तुत टीका में गुणस्थानों के आधार पर संवर योग्य प्रकृतियों का खुलासा कर पाठकों की जिज्ञासा का शमन किया गया है।

इसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रगत सकल विषयों को आगम आधार पूर्वक प्रामाणिक रूप में सरलतापूर्वक प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत टीका की एक और विशेषता है कि इसमें प्रत्येक अध्याय के विषय से सम्बन्धित चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, जो विषय-बोध में अति सहायक हैं। इन चित्रों की कलाकर्त्री कमला राजा गर्ल्स कॉलेज, ग्वालियर, म.प्र. में कला विभाग की प्रोफेसर (डॉ.) श्रीमती जया जैन हैं।

उक्त टीका की प्रामाणिकता के विषय में इतना कथन ही पर्याप्त है कि टीका का एक-एक शब्द और पंक्ति जैनागम विश्रुत विद्वान्, ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक शाखाओं में अप्रतिहतगति सम्पन्न पूज्य मुनिवर श्री अभयसागरजी महाराज की सूक्ष्मेक्षिका-सम्पन्न दृष्टि द्वारा शोधित तथा निर्देशित है।

उक्त गहन अध्यवसायपूर्वक प्रस्तुत विद्वत्तापूर्ण सारस्वत टीका गुरुभक्ति में समर्पित, सरलमना, मूक साहित्यसेवी श्री एस.एल. जैन का देव-शास्त्र-गुरु भक्ति समर्पित अनर्घ्य अर्घ्य है।

समासतः कहा जा सकता है कि उक्त कार्य देशी-विदेशी विद्वानों, शोधार्थियों, ज्ञानपिपासु स्वाध्यायीजनों के लिए अनुपम पाथेय सिद्ध होगा। वस्तुतः श्री जैन साहब और उनका सारस्वत कार्य अभिनन्दनीय एवं श्लाघनीय है, उन्हें कोटिशः साधुवाद।

विषम कलिकाल को अपनी आगमोक्त चर्या द्वारा चतुर्थकाल में परिणत करने को उद्यत महाकवि सन्तशिरोमणि पूज्य दिगम्बराचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज व तत्-शिष्य पूज्य मुनिवर श्री अभयसागरजी महाराज के पावन चरणों में त्रिवार-त्रिकाल सश्रद्ध नमोऽस्तु।

श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान

जैन नसिया रोड, वीरोदय नगर, सांगानेर–302029, जयपुर (राज.)

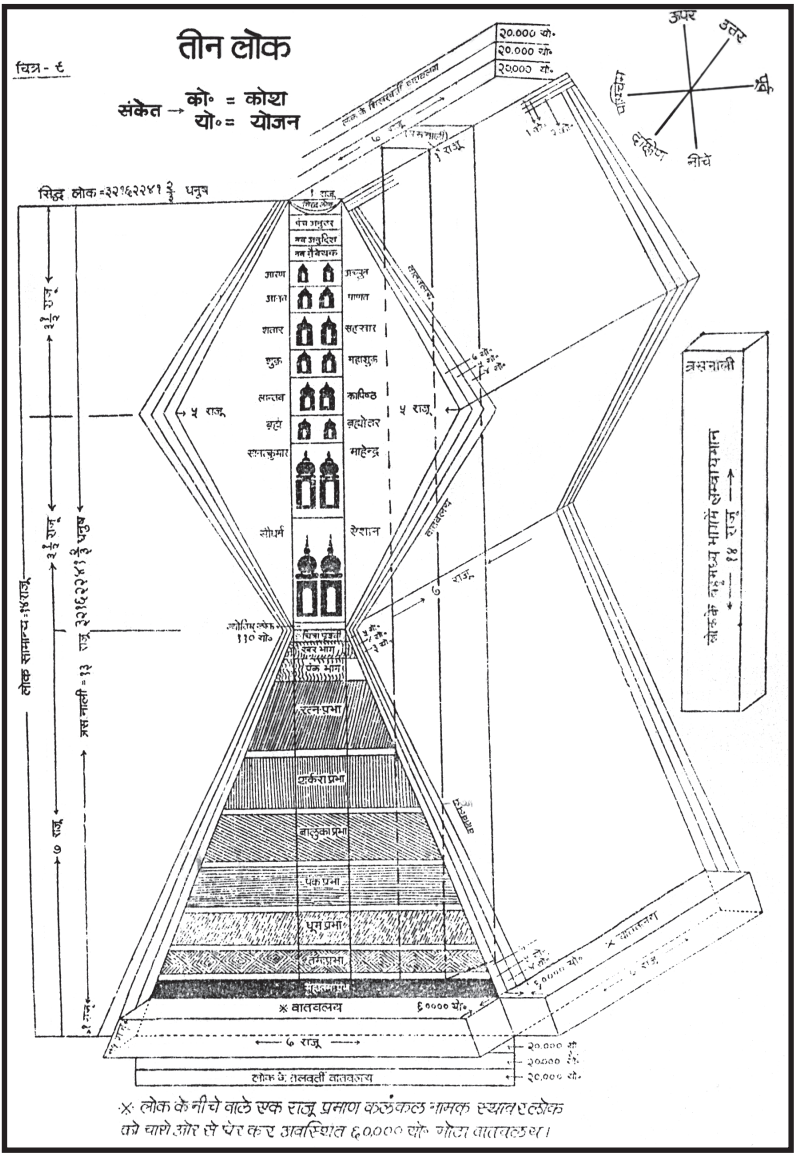
तीन लोक
चित्र- ६
संकेत → को॰ = कोश
यो॰ = योजन
सिद्ध लोक = ३२१५२२४१३/४ धनुष
लोक सामान्य = १४ राजू
त्रस नाली = १३ राजू ३२१५२२४१३/४ धनुष
१ राजू
१३/२ राजू
३ १/२ राजू
७ राजू
५ राजू
५ राजू
७ राजू
१ राजू
ऊपर
उत्तर
पूर्व
दक्षिण
पश्चिम
नीचे
त्रसनाली
लोक के सम्पूर्ण भागों में सम्भावित
१४ राजू
रत्न प्रभा
शर्करा प्रभा
बालुका प्रभा
पंक प्रभा
धूम प्रभा
तमःप्रभा
महातमःप्रभा
※ वातवलय
६०००० यो॰
७ राजू
लोक के तलवर्ती वातवलय
२०,००० यो॰
२०,००० यो॰
२०,००० यो॰
※ लोक के नीचे वाले एक राजू प्रमाण कलंकल नामक स्थान लोक के चारो ओर से घेर कर अवस्थित ६०००० यो॰ मोटा वातवलय।

Preface

Aruṇakumāra Jaina
Ex-Principal
(President-Awardee)

'Tattvārthasūtra' - the most celebrated composition by Gṛddhapicchācārya Umāsvāmī is the first scripture of Jaina literature written in Saṁskṛta aphorism. In this auspicious treatise, all Jaina philosophical principles have been enshrined in the least possible words containing aphorisms with solemn, sound, profound but blameless meaning which proves the saying 'an ocean put in a pot.'

In Jaina philosophy and religion 'Tattvārthasūtra' holds the same respectful & eminent position which is occupied by 'Nyāyasūtra' in Nyāyadarśana composed by Akṣapāda Gautama, 'Vaiśeṣikasūtra' in Vaiśeṣikadarśana composed by Kaṇāda', 'Vedāntasūtra' in Vedāntadarśana composed by 'Bādarāyaṇa', 'Yogasūtra' in Yogadarśana composed by Patañjali. 'Tattvārthasūtra' is acclaimed as 'Gītā', 'Bible' and 'Dhammapada' of Jaina religion. Amongst all the four sects of Jaina religion, this scripture with negligible variations commands equal regard and respect.

This small but great treatise contains gist of all the principles of Jainism in nutshell in such a systematic, fool-proof and authentic manner that it has acquired the position of the very basis of Jaina philosophy as enunciated by Bhagavān Mahāvīra in the form of 'Dvādaśaṅgavāṇī'.

Tattvārthasūtra is also called 'Mokṣaśastra' because the very opening aphorism paves the path of liberation i.e. how to get rid of extreme miseries and sufferings of the world and the entire treatise is committed to the same cause i.e. salvation and its ways & means by giving vivid & meticulous description of seven Tattvas (Realities). Its tenth i.e. last chapter deals with the characteristics of 'Mokṣa' (salvation/liberation).

An ample proof of the unique importance of this scripture is evident from the fact that numerous Jaina devotees recite the text on every 8th & 14th holy day of each fortnight and those who are unable to recite it on their own, devotedly listen to it recited by others and feel greatly blessed on listening to it. It is said that one thorough recitation

of the entire text results in bondage of pious karmas equal to that which results by one fast, as is evident from the following verse at the end of the hand written texts of this great scripture :

"Daśādhyāye Paricchinne, Tattvārthe Paṭhite Sati.
Falaṁ Syādupavāsasya, Bhāṣitaṁ Munipuṅgavaiḥ."

This is what the erudite great monks have said about it.

Author of the Scripture

Gṛddhapicchācārya Umāsvāmī is the author of this scripture. Ācārya Vīrasena Svāmī has quoted an aphorism by mentioning the name of the author as Gṛddhapicchācārya & the scripture's name as 'Tattvārthasūtra' as follows - "Taha Giddhapinchāiriyappayāsidat-accatthasutte Vi "Varttanāpariṇāmakriyāḥ Paratvāparatve Ca Kālasya" Idī Davvakālo Parūvido"[1]. Apart from this, the author of 'Tattvārtha-ślokavārtikālaṅkāra' Ācārya Vidyānandī (Vidyānanda) has also affirmed the fact that Gṛddhapicchācārya is the author of Tattvārthasūtra by writing "Etena Gṛdhrapicchācāryaparyantamunisūtreṇa Vyabhicāritā Nirastā."[2]

The following verse appended to many hand written manuscripts of the text is found at the end of the scripture :

"Tattvārthasūtrakarttaraṁ Gṛddhapicchopalakṣitam.
Vande Gaṇīndrasaṁjātamumāsvāmimunīśvaram."

This verse mentions the name as Umvāsvāmī along with Gṛddhapicchācārya as the author of the scripture.

Ācārya Vādirāja while offering his hymn to Gṛddhapicchācārya writes, "I vow to the great virtuous Gṛddhapicchācārya, whose support to the followers of the path of salvation is as essential as that of the wings to a bird aspiring to fly in the sky."[3] I bow to such a virtuous Gṛddhapicchācārya.

An inscription in Śravaṇabelagolā (Hāsana), Karnātaka mentioning the reasons why he was named Gṛddhapicchācārya, states him as a desciple of Ācārya Kundakunda and names him as Umāsvātī also :

1. Ṣaṭkhaṇḍāgama/Dhavalā Tīkā/Jivasthāna/Kāla Anuyogadvāra/Book 4,P.316
2. Tattvārthaślokavārtikālaṅkāra, P. 6
3. Anucchaguṇasaṁpātaṁ Gṛddhapicchaṁ Nato(a)smi, Tam; Pakṣīkurvanti Yaṁ Bhavyā Nirvāṇayotpatiṣṇavaḥ. - **Pārśvanātha Carita, 1-16**

''Abhūdumāsvātimuniḥ Pavitre,
Vanśe Tadīye Sakalārthavedī.
Sūtrīkṛtaṁ Yena Jinapraṇītaṁ,
Śāstrārthajātaṁ Munipuṅgavena.''॥1॥

''Sa Prāṇisaṁrakṣaṇasāvadhāno,
Babhāra Yogī Kila Gṛddhrapakṣān.
Tadā Pravṛtyeva Budhā Yamāhu-
rācāryaśabdottaragṛddhrapiccham.''[1]॥22॥

Beside the aforesaid one, in the first part of 'Jaina śilālekha Saṅgraha', inscription no. 43 mentions Gṛddhapicchācārya as the celebrated writer of the whole Jaina scriptures in the aphorism form as preached by Lord Jinendra. Not only this, but other inscriptions at Śravaṇabelagolā no. 40, 42, 43, 47 and 50 also confirm the name of Gṛddhapicchācārya alias Umāsvāmī and/or Umāsvāti as the author of Tattvārthasūtra.

In many citations, as mentioned above, Gṛddhapicchācārya Umāsvāmī is mentioned as Sakalārthavedī (having knowledge of entire Jaina Philosophy), Śrutakevalideśīya (possessing partial power of Omniscience), Munipuṅgava (erudite great monk), Yatīśa (principal monk with higher austerity).

Inscription no. 155 mentions his second name as Umāsvāti also along with Gṛddhapicchācārya as the author of Tattvārthasūtra as is evident from this verse :

Śrīmānumāsvātirayaṁ Yatīśastattvārthasūtraṁ Prakaṭīcakāra,
Yanmuktimārgācaraṇodyatānāṁ Patheyamarghyaṁ-
Bhavati Prajānām.
Tasyaiva Śiṣyo(a)jani Gṛddhrapicchadvītiya-
sañjñasya Balākapicchaḥ.
.....॥16॥

Hence all the above opinions of Ācāryas and ancient inscriptions confirm that Gṛddhapicchācārya Umāsvāmī or Umāsvāti is the author of Tattvārthasūtra.

It is to be specially noted that the so called 'Svopajñabhāṣya' i.e. self-written commentary is not written by Umāsvāmī but it is written by some other Ācārya in a later period after Ācārya Pūjyapāda had

1. Jaina Śilālekha Saṅgraha, First Part, No. 108

already written 'Sarvārthasiddhi'. Details in this regard are available in the preface written by Pd. Fūlachand Śastrī for 'Sarvārthasiddhi' scripture, by Kailāśa Candra Śāstrī in his book named 'Jaina Sāhitya Kā Itihāsa' and by Prof. Dr. Ratanachandra Jaina, Bhopāla in the treatise called 'Jaina Paramparā Aura Yāpanīya Saṁgha'.

Time-period of Author Ācārya Gṛddhapiccha

Ācārya Gṛddhapiccha has not written any thing anywhere about his ownself. As such many scholars have undertaken in-depth research about his time-period etc. On the basis of lineage of Nandisaṁgha Ācāryas, Prof. Hārnale, Dr. Pīṭarsana and Dr. Satīśachandra have concluded his time-period as first century AD.

In Śrutāvatāra, Indranandī has given lineage of the Ācāryas possessing knowledge of all scriptures after salvation of Bhagavān Mahāvīra and after mentioning names of Vinayadhara, Śrīdatta and Arhaddatta, possessing partial scriptural knowledge, name of Arhadbali as founder of Nandisaṅgha is mentioned. In Śrutāvatāra, Ācārya Kundakunda is mentioned after Ācārya Māghanandī, Dharasena, Puṣpadanta and Bhūtabalī. If the total time- period of Ācāryas having partial scriptural knowledge is assumed as 100 years then time-period of Ācārya Kundakunda comes out to be 783 years after salvation of Mahāvīra, which is the second half of first century AD. On this basis, the period of Ācārya Gṛddhapiccha is between the last part of the first century AD and the first part of second century AD.

Dr. A.N. Upādhye, after in-depth study has decided the time-period of Ācārya Kundakunda. According to him, Ācārya Kundakunda's time-period is first century A.D. and as Ācārya Gṛddhapiccha is his desciple, his time-period is also the same.

According to almost all scholars of history, the time-period of the author of Tattvārthasūtra is between first & second century AD.

Tattvārthasūtra Scripture

All Indian writers of scriptures at stream hold the view that the ultimate aim of their learning is to attain salvation i.e. complete liberation, even where the subject matter of the scriptures may be relating to economics, sex, astrology or music.

Kaṇāda[1], the writer of Vaiśeṣikasūtra presenting his description of Padārtha (matter) holds the view that his description is a means to attain salvation. Gautama[2], the composer of Nyāyadarśana postulates that the salvation can be attained through acquisition of knowledge of sixteen Padārthas (substances) like Pramāṇa-Prameya etc. Scientific study of the chief elements, i.e. Prakṛti & Puruṣa as propounded by Sāṅkhyadarśana[3] also concludes that salvation i.e. the means of liberation from mundane miseries is attained by such studies.

The followers of devotionalism are also of the opinion that the total devotion narrating Jīva (soul), Jagat (world) & Īśvara (God) is the medium to attain salvation. According to Bauddhadarśana, the objective of the description of four 'Āryasatyas' is nothing except attainment of salvation.

Following the tradition of Indian philosophers as the sole objective of the preaching of Tattvas in Tattvārthasūtra, the opening aphorism and the last chapter are dedicated to delineation of the characteristics of Mokṣa i.e. salvation. Thus the thorough narration of seven Tattvas according to Jaina philosophy in Tattvārthasūtra, the aim of attainment of Mokṣa has been setforth.

The subjects dealt in Tattvārthasūtra is as under -

Division of Subject-matter

Ācārya Umāsvāmī has divided the contents of the Tattvārtha in ten chapters in the following order - the first chapter deals with Jñānamīmaṁsā or Pramāṇamīmāṁsā (Investigative knowledge regarding Righteousness), from second to fifth chapters deal with Jñeyamīmāṁsā or Tattvamīmāṁsā (Characteristics of Realities) and from sixth to tenth chapters deal with Cāritramīmāṁsā (Characteristics of Righteous conduct leading to salvation).

Jñānamīmaṁsā/Pramāṇamīmāṁsā

Jñānamīmaṁsā i.e. investigation in to Right Knowledge, as per aphorism "Pramāṇanayairadhigamaḥ"[4] and "Pramāṇādarthasaṁsiddhiḥ"[5], is impossible without Right Knowledge (Pramāṇa) and Naya (Standpoint). Therefore Ācārya Umāsvāmī in the very first chapter has en-

1. Kaṇāda, Vaiśeṣika Sūtrā, 1-1-4
2. Nyāyasūtra, 1-1-1
3. Eśvarakṛṣṇa, Sāṅkhyakārikā-2
4. Tattvārthasūtra/ch.-1, Sūtra-6
5. Parīkṣāmukha/Maṅgalācaraṇakārikā

lightened us about the characteristics of Pramāṇa and Naya - the two aspects of knowledge. Under this discussion, the knowledgeis is classified in to two types - Pramāṇarūpātmaka and Nayarūpātmaka. Here Right Knowledge is stated to be of five kinds - Mati (sensory knowledge), Śruta (Scriptural knowledge), Avadhi (clairvoyance), Manaḥparyaya (Mental knowledge) and Kevalajñāna (Omniscience). The author has termed the first two knowledge as indirect because their manifestation takes place through the external support of sense organs. Avadhi, Manaḥparyaya and Kevalajñāna are accepted as direct ones as they manifest directly from soul without any external support. Here after narrating means of manifestation of Matijñāna, its 336 sub-divisions have been described. Thereafter the description of Śrutajñāna (scriptural knowledge) and Āgamajñāna (total scriptural knowledge as per Jaina philosophy) is given. Next, under direct knowledge, the different characteristics of Avadhi, Manaḥparyaya and Kevalajñāna with the difference of the one from the other, comparative differences etc. are given. While detailing their comparative scope in respect of the subject and their range etc., all the five knowledg are covered. As a result of centrary (false) belief, the first three knowledge can be false knowledge also. There falsity has been clarified by citing an example of a drunkard. At the end of the chapter, elaborating the description of Dravyārthika Naya (substantial point of view) and Paryāyārthika Naya (modal stand point of view) as given in Jaina canon, the seven Nayas i.e. Naigama, Saṅgraha, Vyavahāra, Ṛjusūtra, Śabda, Samabhirūḍha and Evaṁbhūta have been defined. Besides this, as a method to acquire exact knowledge of Jīva etc. Dravyas, the gateway of exposition in the form of Nirdeśa (definition), Svāmitva (ownership), Sādhana (means), Adhikaraṇa (substratum), Sthiti (duration), Vidhāna (arrangement) and Sat (existence), Saṅkhyā (numbers), Kṣetra (reign), Kāla (time), Antara (interval in occurence), Bhāva (thought activity), Alpabahutva (reciprocal comparision) etc. have been elaborated.

Special Features

In 'Pravacanasāra' scripture also we find the description of Jñānamīmāṁsā but in this treatise, outstanding feature is that alongwith complete description of divisions, sub-divisions of right knowledge and its objects, the difference between right and wrong knowledge has been distinctly drawn and an attempt to assign a front position to

Jñānamīmāṁsā in comparision with Pramāṇa has been made. The characteristics of Savikalpa (knowledge with options) and Nirvikalpa (knowledge without options) as given in Nyāyadarśana[1] and Bauddhadarśana texts can be compared with the description of Avagraha (glimpse), Īhā (conception), Avāya (judgement) and Dhāraṇā (retention) as detailed in Tattvārthasūtra. The descriptions of direct and indirect knowledge along with their divisions i.e. Smṛti (remembrance), Pratyabhijñāna (recognition), Tarka (reasoning), Anumāna (deduction) and Āgama (scriptures) in Tattvārthasūtra opens the opportunities of coordination with different philosophical schools. Different philosophical schools propound different numbers of Pramāṇas - Bauddhadarśana propounds two numbers of Pramāṇa - Pratyakṣa (direct) and Anumāna (deduction); Sāṅkhyadarśana propounds three numbers - Pratyakṣa, Anumāna and Śabda (word); Nyāyadarśana presents four numbers consisting of Pratyakṣa, Anumāna, Upamāna (analogy) and Śabda and Mīmāṁsādarśana gives six numbers of Pramāṇa. In this way, we find that first chapter of Tattvārthasūtra puts seeds for mutual exchange of ideas, coordination, philosophical deliberations, social & philosophical accomodation among various Indian philosophies.

Jñeya Mīmāṁsā (Tattva Mīmāṁsā)

Jīva : There are seven Tattvas (Realities) according to Jaina philosophy and amongst them, soul (Jīva) is the most important, as soul alone is worth-attainable, possesses knowledge and is a subject of meditation because influx and bondage of karmas take place to the soul only. It alone possesses the capacity of stoppage & shedding of karmas which in turn beget Mokṣa - a state of redemption from all mundane miseries and attainment of everlasting bliss. Hence, the second chapter describes aptly, authentically and briefly the characteristics of Jīvas, their classification, sub-division, different sense organs of mundane-beings, their transmigratory motion from one life to the other, type of births, types of gross bodies etc. of the worldly living beings.

Premature or Untimely Death

Concluding part of the second chapter describes those mundane beings who can reduce their life span & those who can not do so. Those who possess hellish & heavenly life-courses and those who are

1. Nyāyasiddhānta Muktāvali, Kārikā 52-55

to attain salvation in that very life-course and those who have life-span of in-numerable years living in pleasure-lands do not undergo untimely death; they enjoy their full life-span. Other than these, the mundane beings living in action-land (common human beings and Tiryañcas) may end their life-span untimely due to accident, consuming poisonous material etc.

According to the last aphorism of the second chapter of Tattvārthasūtra, it is clarified that except those who take instantaneous birth (Hellish beings & deities) etc. all others can meet untimely death. Bhagavatī Ārādhanā[1], Bhāvapāhuḍa[2] scriptures etc. do fully support this view. In the light of the controversies arising out of the occurrence of untimely death, the last aphorism of the second chapter and commentaries & interpretations there to, lead us for enlightenment to resolve this problem.

The third chapter imparts knowledge about hellish beings. In respect of their dwellings, there is a very brief description of Adholoka (lower universe). Its details can be seen in Tiloyapaṇṇatti, Trilokasāra etc. scriptures. In this chapter, brief but compact description of the body heights, Lesyas (passionate activities of soul), Kaṣāya (passions) and their miseries is given.

Human beings & Tiryañcas and Manuṣya Loka (Human Land)

In the third chapter, along with the description of human beings and Tiryañcas, we get detailed description of in-numerable islands, oceans, mountains, rivers, reigns, which can be termed as Jaina geography. Thus Tattvārthasūtra, through descriptions of Tattvas depicts geography also.

It is to be specially clarified that whatever geographical and astrological description is found in Tattvārthasūtra and in other Karaṇānuyoga scriptures, is all in respect of eternal cosmology. That is why it does not tally with modern geography. Tattvārthasūtra mentions that ascending and descending changes of time-cycle take place in Bharata & Airāvata regions. In both these regions, the change from Bhogabhūmi to Karmabhūmi and viceversa occurs owing to cyclic changes resulting in geographical changes.[3] After the elapse of Bhogabhūmi on the ad-

1. Bhāgavatī Ārādhanā/Gāthā 830
2. Bhāvapāhuḍa/Gāthā 25, 26
3. Bharatairāvatayorvṛddhihrasau Ṣaṭsamayābhyāmutsarpiṇyavasarpiṇībhyām - Tattvārthasūtra, 3/27

vent of Karmabhūmi up to the time of catastrophe, the earth bulges out by one Yojana, hence it appears round shaped and other small mountains and sub-oceans are also formed. This is the reason why the eternal earth as described in ancient scriptures does not match with modern geography. In this respect, specific researches and studies are essential. I am of the very clear opinion that as a result of prolonged researches, science has confirmed life in water & vegetables, similarly the detailed description about geography as given by Jaina scriptures will also be proved right by science in due course of time because science deals only with and is dependant on external experiments whereas the description contained in Jaina scriptures is based on direct knowledge of Kevalī (Omniscientist).

Devagati Ke Jīva (Celestial Beings) and Upper Universe

The fourth chapter of Tattvārthasūtra vividly describes life of celestial beings, their four groups, their division & sub-divisions, their passion tainted soulś activities (Lesyas), Indras, longevity, grandeur, powers, pleasures, lustre, capacity of to & fro movement, possessions etc. As per Jaina scriptures, Devas are of four groups - Bhavanavāsī (Residential celestial beings), Vyantara (Peripatetic celestial beings), Jyotiṣka (Stellar celestial beings) and Vaimānika (Heavenly beings). These Devas being endowed with supernatural powers, grandeur, bliss, capacity of to & fro movement and power of transforming body shapes, are superior to human beings but as regards attainment of salvation, they are inferior to human beings as they do not have the capacity to undergo penance and restraint which are pre-requisites to attain salvation.

It is indeed very unfortunate that due to present fifth era, many ignorant persons are engaged in their worship, are installing their idols. They must understand that Devas are also bound to face their karmic fruition and are incompetant to follow the path of salvation so as to get rid of mundane sufferings. Their worship is contrary to Jaina canons.

Ajīva Dravya (Non-living substances)

According to Jaina philosophy, Pudgala (matter), Dharma, Adharma, Ākāśa and Kāla are non-living Dravyas. Very clear and exhaustive description of all these five Dravyas is given in fifth chapter of Tattvārthasūtra.

In accordance with Jaina philosophy, Tattvārthasūtra defines Dravya as 'Sat' i.e. existence. Sat is defined as simultaneous possession of origination, destruction and permanence. The aphorism "Utpādavyayadhrauvyayuktaṁ Sat" has presented the very heart of Jaina philosophy. Because of its nature of origination & destruction, Dravya is regarded transient and due to its nature of permanence as permanent or eternal.

This eternal and transient nature as propounded in Jaina canons has also been accepted by Patañjali Yogadarśana[1] and Mīmāṁsādarśana of Ācārya Kumārila Bhatta.[2]

Pudgala Dravya as described in Tattvārthasūtra is almost identical to the matter as presently viewed by science. The only difference in this regard is that Parmāṇu as known in Jaina canons, is absolutely indivisible whereas an atom of modern science consists of proton, electron and nutron particles. The Dharma, Adharma, Ākāśa and Kāla Dravyas as delineated in fifth chapter prepares ground for scientists to conduct researches & investigations.

Cāritra or Ācāramīmāṁsā

Like Vaiśeṣika, Nyāya and Sāṅkhyadarśana, Jaina philosophy does not accept the view that only Jñāna (knowledge) is a means to attain salvation i.e. Mokṣa. Jainas postulate that unity of Right faith, Right knowledge along with righteous conduct is the means of liberation or salvation (Mokṣa). Hence chapters from 6th to 10th of Tattvārthasūtra give complete and detailed description of the righteous conduct to be followed. These chapters narrate what conduct related activities are abandonable, what are the consequences of the abandonable activities, what are the measures and order for abandonment and what meritorious conduct in lieu of those activities is to be followed, so that adopted conduct leads to spiritual upliftment. Such a description is covered under Āsrava Tattva (Influx of karmas), Puṇyāsrava (meritorious influx) and Saṁvara (stoppage of influx) and Nirjarā (shedding of bonded karmas) and Mokṣa Tattvas.

1. Dravyaṁ Nityaṁ Ākṛtiranityā..... (Pātañjala Mahābhāsya/1-1-1
2. Na Naśena Vinā Śoko, Notpādena Vinā Sukham.
   Sthityā Vinā Na Mādhyasthaṁ, Tena Sāmānyanityatā - Mīmāṁsāślokavartika/P. 610

In the sixth chapter, the characteristics of influx of karma, its kinds and what kind of conduct or activities beget to influx and bondage of karmas have been described. After detailing influx of karmas in sixth chapter, chapter seventh deals with the characteristics of vows under auspicious influx, classification of vowers, ways and means to follow vows steadily, characteristics of voilence etc., sinful activities, possible infractions in following vows (Aticāra), form of charity and its comparative effects in bondage of auspicious/inauspicious karmas.

Eighth chapter deals with causes of bondage of karmas and its four divisions i.e. nature, quantity of karma particles, duration of bondage and power on fruition.

In the ninth chapter, characteristics of Saṁvara (stoppage of influx of karmas), its means, its divisions and sub-divisions and ways & means of shedding have been described.

The tenth chapter deals about the means of attainment of omniscience, characteristics of Mokṣa (salvation) and different ways & classification of souls who have attained salvation.

The prominent feature of the aforesaid description is that whereas details given in Pravacanasāra, Samayasāra scriptures pertain to ascetic practices overlooking the conduct in day to day practice (i.e. in respect of Vyavahāra Naya), in Tattvārthasūtra the influx of karmas, bondage, stoppage and shedding of karmas etc. have been described fully in accordance with practical applicablity step by step.

Attainment of salvation as per Jaina concept is not only to get rid of mundane sufferings in negative sense like that of Nyāya, Vaiśeṣika, Yoga and Bauddha philosophies, but it is a pure natural blissful state of soul embodied with attributes of infinite knowledge, perception, bliss and power.

Absolutely pure salvated soul goes up to stay at the topmost part of Loka (universe). Here, a question is raised as to why does the salvated soul not go further? To answer this, Ācārya Umāsvāmī through the aphorism "Dharmāstikāyābhāvāt" expains that though the soul is naturally possessd with power for upward movement and is also embodied with infinite perception, knowledge, bliss and potency together, but due to absence of the medium of motion, a salvated soul can not move beyond Lokākāśa. When all powerful liberated soul is subject to instrumental cause for upward movement, then how can an instrumntal

cause be inert in case of mundane living beings? Hallucination with regard to the effect of instrumental cause can easily be dispensed with by this answer given in Tattvārthasūtra.

Thus, in Tattvārthasūtra, we find scientific, systematic, appropriate and reasonable description of the path of salvation by way of following gems-trio and seven Tattvas. As such the complete ocean of Jaina scriptures has been enshrined in this small treatise. There is not one topic in this scripture which is without relevance to Jaina philosophy and there is no topic of Dvādasāṅga which is left out of perview of Tattvārthasūtra. Hence it is truly stated "Yadihāsti Tadanyatra, Yannehāsti Na Tat Kvacit", i.e. whatever is in Tattvārthasūtra, the same is found in other treatises and whatever is not in it that is also not found anywhere else. Hence I am of the opinion that if anybody wishes to be enlightened about complete Jaina principles, philosophy, conduct or study of all the four Anuyogas (classification of scriptures), he must go in for studying Tattvārthasūtra.

Sources of Tattvārthasūtra

Wherefrom the sacred Tattvārthasūtra scripture has drawn its contents in respect of seven Tattvas and path to attain salvation? The answer is that the present scriptural knowledge has originatd based on the preaching of Bhagavāna Mahāvīra. That scriptural knowledge is divided in twelve parts. The portion of this twelve parts presently available is contained in Ṣaṭkhaṇḍāgama scripture. The core of the subject matter contained therein has been systematically & scientifically presented in Tattvārthasūtra which is learnt by heart by the devotees. For non-Jaina thinkers also, this is an automatic reference treasure. Aphorisms of Tattvārthasūtra have been composed to contain perfect wording and intrinsic meaning of Jaina scriptures. For acquiring perfect knowledge of the subject matter described in Tattvārthasūtra, one has to consult the preface of the book 'Satyārtha Darśana' (Part I) written by Munī Śri Prabuddhasāgarajī, disciple of great Ācārya Vidyāsāgarajī. In that treatise, author has shown direct relevance of Tattvārthasūtra to Dhavalā, Prāvacanasāra, Pañcāstikāya, Aṣṭapāhuḍa, Mūlācāra, Bhagavatī Ārādhanā etc. texts by quoting relvant references.

Objective of Composing Tattvārthasūtra

What was the objective of composing this treatise when already there were in existence 'Ṣaṭkhaṇḍāgama', 'Kaṣāyapāhuḍa', 'Pravacanasāra', 'Pañcāstikāya' etc. scriptures presenting the heart of Jaina philosophy? The answer is that by the time of Ācārya Umāsvāmī, Saṁskṛta langauge had gained prestigious position in philosophical world and writings in Saṁskṛta was supposed to be touch-stone of scholarship. Hence in order to present Jaina principles with authenticity and to establish supremacy of Jainism over the erudite class, this treatise was composed.

Prior to the period of Ācārya Umāsvāmī, the celebrated text of grammar 'Aṣṭādhyāyī' in aphorism form had already been composed and 'Vaiseṣikasūtra' by Kaṇāda, 'Brahmasūtra' of Bādarāyaṇa and 'Yogasūtra' of Patañjali were available by that time. In that period most of the philosophies had been composed and their fundamental principles in aphorism form were recognized. Hence taking into account the prevailing conditions and traditions, Ācārya Umāsvāmī composed Tattvārthasūtra in aphorism form, which represents complete stream of Jaina philosophy.

There is a great range of subjects in Jaina scriptural tradition. The desired objective of Ācārya Umāsvāmī in composing this treatise was to present these different subjects collectively in a systematic order and in scientific manner in one single text. The compact brevity of this treatise can well be known by the fact that the whole text can be correctly recited only in one Antarmuhūrta i.e. less than 48 minutes.

Commentaries on Tattvārthasūtra

In Jaina scriptural world, this is the only treatise which has the credit of having maximum commentaries and explanations. It is the first classic example of literary world in which an exhaustive & intensive elements of Jaina scriptures have been compacted only in 357 aphorisms. It can be termed as an unprecedented event of literary world. Continuous shower of commentaries and explanations is an ample testmony of its authenticity and honourable position among scriptures.

First of all the renowned Ācārya Samantrabhadra, well known for his argumentative ability wrote 'Gandhahastimahābhāṣya' in very detail. This commantary is unfortunately not presently available though

its references as quoted by other writers are found in abundance in various texts.

Most reverend Ācārya Pūjyapāda wrote the most standard and authentic exposition named 'Sarvārthasiddhi' which has given unanimously approved explanation of all the aphorisms. According to Śvetāmbara sect tradition, we find a self-written (i.e. by Ācārya Umāsvāmī) 'Tattvārthādhigama Bhāṣya' with some modifications. But the claim of Śvetāmbaras' has been discarded by Pd. Nemīcandra Śāstrī in his treatise 'Tīrthaṅkara Mahāvīra Aura Unakī Ācārya Paramparā', by Pd. Kailāśa Candra Śāstrī in his 'Jaina Sāhitya Kā Itihāsa', by Pd. Phūlacandra Siddhāntācārya' in the introduction written on 'Sarvārthasiddhi' scripture and by Dr. Ratanacandra Jaina, Bhopāla in his treatise 'Jaina Paramparā Aura Yāpanīya Saṅgha.'

Ācārya Akalaṅkadeva wrote the exposition titled 'Tattvārthavārtika'. He is the great argumentarian who defeated Bauddha philosophers by his penetrative power of arguments.

'Tattvārthabhāsya Vṛtti' written by Ācārya Siddhasena Gaṇī is based on Śvetāmbara tradition. Ācārya Vidyānanda Svāmī composed 'Tattvārthaślokavārtikālaṅkāra' - an outstanding exposition which contains poetic exposition and also supremely standard commentary on it. Other than these great commentaries and expositions, there are other important literary commentaries available today, some of them are as 'Tattvārthasāra' in poetic diction by Ācārya Amṛtacandra Sūri, 'Tattvārthavṛttipadam' by Ācārya Prabhacandra, 'Sukhabodhavṛtt' by Bhāskaranandi, 'Tattvārthavṛtti' by Bhattāraka Śrutasāgara, 'Hāribhadrīya Vṛtti' by Ācārya Haribhadra etc. Apart from these, references, many other commentaries are also found in several other treatises but the same are not available for our benefit.

Besides the aforesaid Saṁskṛta commentaries on this great text, there is abudance of literary commentaries in Hindī, Marāṭhī, Kannaḍa, Tamila etc. langauges. To make Tattvārthasūtra accessible to international readers 'Tattvārthādhigamasūtra' by J.L. Jainī, 'Reality' by S.A. Jaina, 'That which is' by Nathamala Tātiyā, 'Tattvārthasūtra' by Dr. Dulīchandra Jaina, 'Biology in Jaina Treatise on Reals' and 'Jaina world of non-livings' on separate chapters by Dr. Nandalāla Jaina - all

in English. These English translations have greatly countributed to the wide spread glory and popularity of Tattvārthasūtra.

Hindī commentaries on Tattvārthasūtra, which need special mention include - 'Arthaprakāśikā' by Pd. Sadāsukhadāsajī, 'Tattvārthasūtra' by Pd. Sukhalāla Saṁghavī, Tattvārtha Dīpikā Tīkā of Tattvārtha Mahāsāstra' by Ācārya Jñānasāgarajī, 'Tattvārthasūtra' by Siddhāntācārya Pd. Phūlachandra Śāstrī, commentaries & translations by Siddhāntācārya Pd. Kailaśacandra Śāstrī, & Pd. Pannālāla Sāhityācārya, 'Svatantratā Ke Sūtra' by Ācārya Kanakanandī, 'Satyārtha Darśana' by Muni Śrī Prabuddhasāgara etc.

It is impossible to make mention of all commentaries and translations. It needs broad based survey. It is assumed that more than two hundred commentaries are written in Saṁskṛta, Hindī, Kannaḍa, Tamila, Marāṭhī, English etc. all taken together.

Bilingual Commentary at Hand

Inspite of availability of numerous commentaries on Tattvārthasūtra, there has been a dire need of commentary which contains English along with Hindī and also Hindī with English version. Hence with the blessings of most reverend and eminent Ācārya Śrī Vidyāsāgarajī and under the great scholarly guidance & direction of Muni Śri Abhayasāgarajī, this bilingual commentary in Hindī and English is written by Śrī S.L. Jaina, Retired Executive Director-MPEB, who commands knowledge of both the langauges and has studied Jaina scriptures thoroughly, living a simple life-style of a vower. His contribution through this treatise would certainly add to glorification of Jaina religious grandeur. Before undertaking this composition, he has translated with commentaries in English language, several other books like 'ABC of Jainism', chahaḍhālā, Ratnakaranḍaka Śrāvakācāra, Dravya Śaṁgraha, Pravacana Parva, Pravacana Pārijāta etc. These works have received applause from the scholars.

It is a herculean task to render a text of one langauge into another one maintaining its exact spirit; because the sense expresed in one langauge can not be translated in another langauge in ditto-sense as the other langauge falls short of expressing that very meaning. But Śrī S.L. Jaina at the strength of the blessings of Ācāryaśrī and under the inspiring, able and competent guidance of Muni Śrī Abhayasāgarajī who is

known for his expertise in propagating Jaina grandeur and is known for his versatile knowledge of philosophy of different traditions and also under the literary direction of Pd. Ratanalāla Bainā**ḍ**ā who is also known for his great knowledge of Karaṇānuyoga and other Jaina scriptures, has accepted this challenge and has successfully walked through the thorny path of translating. In presenting the heart of Jainalogy in a befitting manner in this commentary, an unquilified help has also been rendered by Muni Śrī Kṣamāsāgarajī and Muni Śrī Punītasāgarajī - who both are known for their scientific skills in interpretation of Jaina philosophy. Inclusion of Hindī translation with English rendering has tremendeously increased the importance of the work because where there is any problem regarding the comprehension of the subject matter in one particular langauge, the reader can then & there refer to the other version. Moreover, this bilingual edition will prove useful for those Hindī linguistics who want to have comparative study in understanding of this sacred scripture.

Special Features of the Work

English translation of Tattvārthasūtra by J.L. Jainī simply explains the general meaning of the text. 'Reality' written by S.A. Jaina is English translation of 'Sarvārthasiddhi' scriputre. English translation by Dr. Dulīcandra Jaina and by Dr. Nandalāla Jaina present a very good comparative study on scientific basis. 'That which is' written by Nathamala Tātiyā is English translation of Śvetāmbara approved 'Tattvārthādhigamabhāsya'. As such there was a need of such a translation in English which may describe the essence of all the Jaina principles enshrined in 'Tattvārthasūtra', 'Sarvārthasiddhi' & 'Tattvārthavārtika' explaining with wider perspective on scientific scale. The important aspect of the present bi-lingual translation with commentary made by Śrī S.L. Jaina is that it stands true to all the above expectations. In this composition, all theoretical and philosophical aspects have been unfolded vividly on the lines of Ācārya Pūjyapāda and Ācārya Akalaṅka Bhatta.

This translation is 'self-taught' as it contains Hindī and English word meaning of the aphorism, meaning of aphorism followed by bilingual translation and explanation.

This is the first translation which has taken up many topics for explanation which are not found in earlier translations. For example, many misunderstandings of the readers have been removed by way of explaining the kinds of Samyagdarśana along with definition of Kṣayopaśama etc. Labddhis (attainments) in the second aphorism of the first chapter.

The aphorism "Satsaṅkhyā ....." (1/8) has been explained briefly but accurately and aptly.

Sūtra 1/20 explains very successfully in the simplest possible methods the forms of scriptual knowledge; like wise Sūtras 1/21-22 explains both types of Avadhijñāna. In the light of exposition available in Dhavalā etc. sacred scriptures, details of Manaḥparyaya Jñāna have been brought out aptly.

Naigama etc. Nayas (stand-points) with their characteristics are an incomparable and unique gift of Jaina philosophy. A very crystal clear explanation of the complete matter in respect of stand-point shows the writer's competence of narration.

The exposition of five extra-ordinary dispositions of Jīva by way of examples has been made extremely simple to understand. His explanation of the characteristics of 'Āhārakaśarīra' while describing five bodies simply enhances the beauty and ability of commentary (2/49).

The change by way of 'Time-cycle' in Bharata & Airāvata regions (3/27) and the ascend and descend of the time-cycle has been explained beautifully & elaborately.

Under the description of Jaina-Karaṇānuyoga, the method of mathematical computations for formation of Palya-Sāgara (3/38) has been presented very systematically in a simple way.

Whereas Saṁvara and its causes are dealt with in other commentaries but their co-relation with stages of spiritual development i.e. Guṇasthāna along with shedding of Karma particles depicted in this commentary is an unique feature which could resolve many querries of the readers. Another outstanding feature of this translation is that in the beginning of each chapter a fine drawing depicting minute details of Tattvas which help in proper comprehension of the subject of that chapters has been presented. These drawings have been drawn by Smt. (Dr.) Jayā Jaina, professor of Kamalā Rājā Girls College, Gwālior (M.P.).

Regarding the authenticity of the translation & commentary, it is more than enough to mention that each and every word and everyline of this treatise has undergone microscopic examination and revision as per directions and guidance given by scriptural erudite great Muni Śrī Abhayaśāgarajī.

This scholarly translation based on profound study of scriptures is an invaluable devotional worship to Deva, Śāstra and Guru by a pure and simple hearted litearary servant Śrī S.L. Jaina.

To sum up, it can be said that this translation is unqualified invaluable help for national, international scholars, researchers, inquisitive readers of Jainadarśana. This endeavour of Śrī S.L. Jaina is commendable, praiseworthy and deserves hearty applause.

I humbly bow to the holy feet of the great Digambara poet - Ācārya Vidyāsāgarajī and his alter-ego desciple Śrī Abhayasāgarajī who in these adverse conditions of Kalikāla, by vigilantly following the purest form of the Right conduct have become the embodiment of the conduct of 'Caturthakāla' i.e. fourth era.

I beg their blessings to remain a devout follower of their pious feet.

Śrī Digambara Jaina Śramaṇa Saṁsthāna,
Jaina Nasiyā Road, Vīrodaya Nagara,
Sāṁgānera - 302 029, Jaipura (Rājasthāna)

विषय–अनुक्रमणिका/Contents

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
तत्त्वार्थसूत्रम्/Tattvārthasūtram	
उच्चारण की रीति/System Adopted for Transliteration	(इ)
जम्बूद्वीप का चित्र/Map of Jambūdvīpa	(ई)
प्रकाशकीय - पन्नालाल बैनाड़ा	(I)
Publishers' Note - Pannālāla Baināḍā	(V)
सम्पादकीय - एस.एल. जैन	(IX)
Editors' Note - S.L. Jaina	(XIII)
प्रास्ताविक-प्राचार्य अरुणकुमार जैन	(XVII)
तीन लोक का चित्र/Map of Three Loka	(XXXIV)
Preface - Aruṇakumāra Jaina	(XXXV)
विषय-अनुक्रमणिका/Contents	(LIII)
सुमेरु पर्वत का चित्र/Map of Sumeru Parvata	(LXIV)
प्रथमोऽध्यायः/First Chapter	**1-33/1–78**
मङ्गलाचरणम्/Benedictory Recital	1
मोक्षमार्ग का निरूपण/Description of Path of Liberation	1/3
सम्यग्दर्शन का लक्षण - उत्पत्ति और भेद/Characteristics of Right Faith - Attainment & Kinds	2/5
सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण/Causes of Manifestation of Right Faith	3/10
प्रयोजनभूत तत्त्व/Purposefull Realities	4/13
तत्त्वों को जानने के उपाय/Methods of Knowing Realities	5/15
तत्त्वों को जानने के साधन/Means of attaining Knowledge of Realities	6/17

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
पदार्थों को जानने के अन्य उपाय/Other Methods of Knowing Substances	7/20
पदार्थों को जानने के भिन्न उपाय/Different Methods of Knowing Substances	8/23
सम्यग्ज्ञान के भेद/Kinds of Right Knowledge	9/27
परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान/Indirect & Direct Knowledge	10/30
परोक्ष ज्ञान/Indirect Knowledge	11/31
प्रत्यक्ष ज्ञान/Direct Knowledge	12/32
मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द/Synonyms of Sensory Knowledge	13/33
मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त/Causes of Manifestation of Sensory Knowledge	14/35
मतिज्ञान के भेद/Kinds of Sensory Knowledge	15/36
मतिज्ञान के अन्य भेद/Other Divisions of Sensory Knowledge	16/38
पदार्थ के विशेष भेद/Subdivisions of Substance	17/42
अव्यक्त पदार्थों में केवल व्यञ्जनावग्रह/Perception of Only Vyañjanāvagraha in Unmanifested Objects	18/44
व्यञ्जनावग्रह का स्वामी/Owner of Vyañjanāvagraha	19/45
श्रुतज्ञान का कारण और भेद/Means & Kinds of Scriptural Knowledge	20/46
भवप्रत्यय अवधिज्ञान/Birth-based Knowledge such as Clairvoyance	21/49
गुणप्रत्यय अवधिज्ञान/Volitional Purity - Cause of Knowledge such as Clairvoyance	22/52
मनःपर्ययज्ञान के भेद/Kinds of Mind Reading Knowledge	23/57
मनःपर्ययज्ञान के भेदों में विशेषता/Speciality between kinds of Mind Reading Knowledge	24/59
अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में विशेषता/Comparision between Knowledge such as Clairvoyance & Mind Reading Knowledge	25/61

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय/Scope of Sensory Knowledge & Scriptural Knowledge	26/63
अवधिज्ञान का विषय/Scope of Avadhijñāna	27/64
मनःपर्ययज्ञान का विषय/Scope of Mind Reading Knowledge	28/66
केवलज्ञान का विषय/Subject Matter of Omniscience	29/67
एक साथ लब्धिरूप से रहने योग्य ज्ञान/Capability of Simultaneous attainment of Knowledges	30/68
मिथ्याज्ञानों का निरूपण/Manifestation of Wrong Knowledges	31/70
विपरीत ज्ञान का कारण/Causes of Wrong Knowledge	32/71
नयों का प्रयोजन एवं प्रकार/Purpose & Kinds of Stand-points	33/77
द्वितीयोऽध्यायः/Second Chapter	**1-53/79-168**
जीव के असाधारण भाव/Distinctive Characteristics of Jīva	1/79
जीव के भावों के उत्तर भेद/Sub-kinds of dispositions of the Jīva	2/84
औपशमिक भाव के भेद/Kinds of Subsidential disposition	3/85
क्षायिक भाव के भेद/Kinds of disposition arising out of Destruction of Karmas	4/89
क्षायोपशमिक भाव के भेद/Kinds of Disposition arising out of Destruction-cum-Subsidence of Karmas	5/91
औदयिक भाव के भेद/Kinds of Disposition arising out of Fruition of Karmas	6/94
पारिणामिक भाव के भेद/Kinds of Natural Disposition	7/97
जीव का लक्षण/Distinguishing Feature of a Soul	8/99
उपयोग के भेद/Kinds of Active Consciousness	9/101
जीवों के भेद/Kinds of Jīvas	10/104
संसारी जीवों के भेद/Kinds of Mundane beings	11/107
संसारी जीवों के भेद (त्रस-स्थावर)/Kinds of Mundane beings (Mobile & Immobile)	12/109
स्थावर जीवों के भेद/Kinds of Immobile Beings	13/109

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
त्रस जीवों का कथन/Description of Mobile Beings	14/113
इन्द्रियों की सङ्ख्या/Number of Sense-organs	15/115
इन्द्रियों के प्रकार/Kinds of Sense-organs	16/116
द्रव्येन्द्रियों का स्वरूप/Nature of Physical Sense-organs	17/116
भावेन्द्रियों का लक्षण/Characteristic of Psychic Sense-organs	18/118
इन्द्रियों के नाम/Names of Sense-organs	19/118
इन्द्रियों के विषय/Subjects of Sense-organs	20/120
मन का विषय/Scope of Mind	21/122
स्थावर जीवों की इन्द्रिय/Sense-organ of Immobile Beings	22/123
त्रस जीवों की इन्द्रियाँ/Sense-organs of Mobile Beings	23/124
पञ्चेन्द्रिय जीवों के भेद/Kinds of Five Sense-organs Beings	24/125
विग्रहगति में होने वाला योग/Yoga in Transmigration State	25/126
जीव और पुद्गल की गति/Movement of Soul and Pudgala	26/127
सिद्ध जीव की गति/Movement of Liberated Soul	27/129
संसारी जीवों की गति/Transmigratory Movement of Mundane Beings	28/130
बिना विग्रहवाली गति का काल/Time in Transmigration without a Bend	29/132
विग्रहगति में अनाहारक अवस्था/Non-assimilation State in Transmigration	30/133
जन्म के भेद/Kinds of Births	31/135
योनि के प्रकार/Types of Nuclei of Birth	32/137
गर्भजन्म के भेद/Kinds of Uterine Birth	33/140
उपपाद जन्म/Birth By Instantaneous Rise	34/141
सम्मूर्च्छन जन्म/Spontaneous Birth	35/142
संसारी जीवों के शरीर/Bodies of Mundane Beings	36/143
शरीरों का आकार/Form of Mundane-bodies	37/145

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
शरीरों के प्रदेश/Space-points of Bodies	38/145
अन्तिम दो शरीरों के प्रदेश/Space-points of Last Two Bodies	39/146
अन्तिम दो शरीरों की विशेषता/Speciality of Last Two Bodies	40/147
अन्तिम दो शरीरों का अनादि सम्बन्ध/Beginning-less Association of Last Two Bodies	41/148
अन्तिम दो शरीरों के स्वामी/Owner of the Last Two Bodies	42/149
एक साथ होने वाले शरीर/Simultaneous Possession of Bodies	43/150
अन्तिम शरीर उपभोग रहित/Last Body is devoid of Mundane-Enjoyment	44/152
औदारिक शरीर की उत्पत्ति/Origination of Gross-body	45/153
वैक्रियिक शरीर की उत्पत्ति/Origination of Transformable Body	46/154
ऋद्धि से वैक्रियिक शरीर की प्राप्ति/Attainment of Transformative Body by Special Austerities	47/155
लब्धि से तैजस शरीर की प्राप्ति/Attainment of Electric Body by Special Austerities	48/157
आहारक शरीर - स्वरूप एवं स्वामी/Translocational Body-Characteristics & Possessor	49/159
नपुंसक लिङ्ग के स्वामी/Possessors of Neuter Sex Gender	50/162
देवों के लिङ्ग/Sex Genders of Celestial Beings	51/163
तीनों वेद वाले जीव/Possessors of Three Genders	52/163
अकालमरण से रहित जीव/Souls free from Untimely Death	53/164
अधोलोक का चित्र/Map of Adholoka	53/168
तृतीयोऽध्यायः/Third Chapter	**1-39/169-230**
अधोलोक में पृथिवी आदि की अवस्थिति/Existence of Earths etc. in Lower World	1/169
नरकों की सङ्ख्या/Number of Hells	2/171
नारकियों की विशेषताएँ/Specialities of Hellis Beings	3/173

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
नारकियों के अन्य दुःख देना/Other Sufferings of Hellish Beings	4/175
असुरों द्वारा नारकियों को दुःख देना/Sufferings of Hellish Beings Caused by Asuras	5/176
नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति/Maximum Life-span of Hellish Beings	6/178
मध्य लोक - द्वीप और समुद्र/Middle World - Continents & Oceans	7/181
द्वीप-समुद्रों का विस्तार/Extent of Continents & Oceans	8/182
जम्बूद्वीप का वर्णन/Description of Jambūdvīpa	9/183
जम्बूद्वीप में स्थित क्षेत्र/Regions of Jambūdvīpa	10/185
जम्बूद्वीप में क्षेत्रों का विभाजन करने वाले पर्वत/Mountains Dividing the Regions of Jambūdvīpa	11/187
पर्वतों के वर्ण/Colour of Mountains	12/189
पर्वतों की अन्य विशेषताएँ/Other Specialities of Mountains	13/191
पर्वतों पर स्थित सरोवर/Lakes on the mountains	14/191
सरोवर का विस्तार/Extent of Lake	15/192
सरोवर की गहराई/Depth of Lake	16/193
सरोवर के मध्य स्थित कमल का स्वरूप/Shape of Lotus Located in the center of Lake	17/194
अन्य सरोवर एवं कमलों का विस्तार/Extent of Succeeding Lakes & Lotuses	18/194
कमलों पर रहने वाली देवियाँ/Nymphs Residing on Lotuses	19/196
क्षेत्रों के मध्य से निकलनेवाली नदियाँ/Rivers Flowing Across the Regions	20/198
नदियों के बहाव की दिशा/Direction of flow of Rivers	21/199
शेष नदियों के बहाव की दिशा/Direction of flow of Remaining Rivers	22/199

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
नदियों का परिवार/Number of Tributories	23/201
भरतक्षेत्र का विस्तार/Extent of Bharata Kṣetra	24/202
शेष पर्वतों एवं क्षेत्रों का विस्तार/Extent of Remaining Mountains & Regions	25/203
उत्तर एवं दक्षिण के क्षेत्र और पर्वतों की समानता/Similarity of North & South Regions & Mountains	26/204
भरत और ऐरावत क्षेत्रों में वृद्धि-ह्रास/Rise and Fall in Bharata & Airāvata Regions	27/205
अन्य क्षेत्रों में काल परिवर्तन नहीं/No cyclic changes in other Regions	28/211
भोगभूमि में जीवों की आयु/Age of Beings in Pleasure-Lands	29/213
उत्तर में मनुष्यों की स्थिति/Status of Human Beings of North Region	30/214
विदेह क्षेत्रों में मनुष्यों की आयु/Age of Human Beings in Videha Kṣetras	31/216
भरत क्षेत्र का विस्तार/Extent of Bharata Kṣetra	32/217
धातकीखण्ड का विस्तार/Extent in Dhātakī Khaṇḍa	33/218
पुष्कर द्वीप का वर्णन/Description of Puṣkara Dvīpa	34/220
मनुष्य लोक/Dwellings of Human Beings	35/221
मनुष्यों के भेद/Kinds of Human Beings	36/223
कर्मभूमियाँ/Action-Lands	37/224
मनुष्यों की आयु/Age of Human Beings	38/226
तिर्यञ्चों की आयु/Age of Tiryañcas	39/228
चतुर्थोऽध्यायः/Fourth Chapter	**1-42/231-290**
देवों के भेद/Groups of Devas	1/231
भवनत्रिक देवों की लेश्याएँ/Colouration of Bhavanatrika Devas	2/233
देवों के भेद/Classes of Devas	3/234

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
प्रत्येक निकायगत देवों के भेद/Classification of Celestical Beings in Each Group	4/235
व्यन्तर-ज्योतिष्क देवों की विशेषता/Special Classification of Peripatetic & Stellar Devas	5/238
आदि के दो निकायों में इन्द्रों की सङ्ख्या/Number of Indras in First two groups of Devas	6/239
देवों का सुख/Pleasure of Celestial Beings	7/240
शेष देवों में प्रवीचार/Sexual Pleasure of Remaining Celestial Beings	8/241
कल्पातीत देवों में अप्रवीचार/Absence of Sexual inclination in Kalpātīta Heavenly Beings	9/243
भवनवासी देवों के नाम/Names of Residential Celestial Beings	10/244
व्यन्तर देवों के नाम/Names of Peripatetic Celestial Beings	11/247
ज्योतिष्क देवों के नाम/Names of Stellar Celestial Beings	12/249
ज्योतिष्क देवों का गमन/Movement of Stellar Celestial Beings	13/251
ज्योतिष्क देवों के गमन से समय विभाग/Division of Time as a Result of Movement of Stellar Beings	14/252
मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिष्क देव अवस्थित/Stellar Beings are Stationary Outside Human-world	15/253
वैमानिक देव/Heavenly Beings	16/254
वैमानिक देवों के भेद/Classification of Heavenly Beings	17/255
वैमानिक देवों के विमानों की स्थिति/Arrangement of Vimānas of Heavenly Beings	18/256
वैमानिक देवों के निवास-स्थान/Names of Residences of Heavenly Beings	19/257
वैमानिक देवों की विशेषता/Special Virtues of Heavenly Beings	20/260
वैमानिक देवों की अन्य विशेषताएँ/Other Special Virtues of Heavenly Beings	21/262
वैमानिक देवों की लेश्या/Thought-colouration of Heavenly Beings	22/264

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
कल्पों की व्यवस्था/Arrangement of Kalpas	23/265
लौकान्तिक देवों के निवास स्थान/Abode of Laukāntika Devas	24/266
लौकान्तिक देवों के भेद/Classification of Laukāntika Devas	25/267
सम्यग्दृष्टि देवों की विशेषता/Speciality of Right Believer Devas	26/270
तिर्यञ्च गति के जीव/Souls in Tiryañca Life-course	27/271
भवनवासी देवों की आयु/Life-Span of Residential Celestial Beings	28/272
सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में देवों की आयु/Life-Span of Celestial Beings of Saudharma-Aiśāna Heavens	29/274
सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की आयु/Life-Span in Sānatkumāra & Māhendra Heavens	30/275
शेष कल्पों की उत्कृष्ट स्थिति/Maximum Life-Span of Remaining Kalpas	31/276
कल्पातीत स्वर्गों में देवों की आयु/Life-Span of Kalpātīta Heavenly Beings	32/278
सौधर्म-ऐशान स्वर्गों में जघन्य आयु/Minimum Life-Span in Saudharma-Aiśāna Heavens	33/280
शेष देवों की जघन्य आयु/Minimum Life-Span of Remaning Heavenly Beings	34/280
नारकियों की जघन्य स्थिति/Minimum Life-Span of Hellish Beings	35/282
प्रथम पृथिवी में जघन्य आयु/Minimum Life-Span in First Earth	36/283
भवनवासी देवों की जघन्य आयु/Minimum Life-Span of Residential Devas	37/284
व्यन्तर देवों की जघन्य आयु/Minimum Life-Span of Peripatetics	38/285
व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु/Maximum Life-Span of Peripatetics	39/286
ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु/Maximum Life-Span of Stellars	40/286
ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु/Minimum Life-Span of Stellars	41/287
लौकान्तिक देवों की आयु/Life-Span of Laukāntika Devas	42/288
विजयार्ध पर्वत का चित्र/Map of Vijayārdha Parvata	42/290
भरत क्षेत्र का चित्र/Map of Bharata Kṣetra	42/290

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
पञ्चमोऽध्यायः/Fifth Chapter	**1-42/291-346**
अजीव द्रव्यों का कथन/Description of Non-soul Substances	1/291
द्रव्यों का कथन/Description of Substances	2/292
जीव द्रव्य का कथन/Description of Soul-Substances	3/293
द्रव्यों की विशेषताएँ/Special Characteristics of Substances	4/294
पुद्गल की विशेषताएँ/Characteristics of Pudgala Substance	5/295
द्रव्यों की सङ्ख्या/Numbers of Substances	6/296
धर्म आदि द्रव्यों की विशेषताएँ/Characteristics of Dharma etc. Substances	7/297
धर्म, अधर्म और एक जीव के प्रदेशों की सङ्ख्या/Number of Space-points of Dharma, Adharma and One Soul	8/298
आकाश के प्रदेशों की सङ्ख्या/Number of Space-points of Ākāśa	9/299
पुद्गलों के प्रदेश/Space-points of Pudgalas	10/300
अणु के प्रदेश/Space-points of an Atom	11/302
द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह/Lokākāśa provides Occupancy to all Substances	12/303
धर्म-अधर्म द्रव्यों का अवगाह/Occupancy of Dharma-Adharma Substances	13/304
पुद्गलों के अवगाह की विशेषता/Speciality of Occupancy of Pudgalas	14/305
जीवों का अवगाह/Occupancy of Souls	15/306
जीव प्रदेशों का सङ्कोच-विस्तार/Contraction & Expansion of Space-points of Soul	16/307
धर्म और अधर्म द्रव्यों का लक्षण/Characteristics of Dharma & Adharma Substances	17/308
आकाश का उपकार/Obligation of Ākāśa	18/309
पुद्गलों का उपकार/Obligation of Pudgala Substances	19/310
पुद्गलों के अन्य उपकार/Other Obligations of Pudgalas	20/313
जीव द्रव्यों का उपकार/Obligation of Soul Substances	21/314

विषय/Subject	सूत्र नं/पृष्ठ नं Sūtra No./Page No.
काल द्रव्य के उपकार/Obligations of Kāla Substance	22/315
पुद्गल के लक्षण/Characteristics of Pudgala Substance	23/318
पुद्गलों की पर्यायें/Modes of Pudgalas	24/319
पुद्गलों के भेद/Classification of Pudgalas	25/323
स्कन्धों की उत्पत्ति/Formation of Skandhas	26/324
अणु की उत्पत्ति/Original Formation of an Atom	27/326
चाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति की प्रक्रिया/Process of Formation of Visible Skandha	28/327
द्रव्य का लक्षण/Characteristic of Substance	29/328
सत् की परिभाषा/Definition of Sat (i.e. existence)	30/328
नित्य का लक्षण/Characteristic of Permanency	31/330
विरोधी धर्मों की सिद्धि/Establishment of Contradictory Characteristics	32/331
बन्ध के हेतु/Means of Bondage	33/332
बन्ध न होने का कारण/Reason for Non-Bondage	34/334
बन्ध के अयोग्य अन्य कारण/Other Reason for Non-Combination	35/335
बन्ध की इष्ट व्यवस्था/Desirable properties for Bondage	36/336
बन्ध होने पर विशेषता/Speciality of Resulting Properties on Bondage	37/337
द्रव्य का लक्षण/Characteristics of Dravya	38/338
काल द्रव्य/Kāla Substance	39/340
व्यवहार काल का प्रमाण/Extent of Practical Time	40/342
गुणों का लक्षण/Characteristics of Attributes	41/343
परिणाम का लक्षण/Characteristics of Modification/ Transformation	42/344

सुमेरु पर्वत

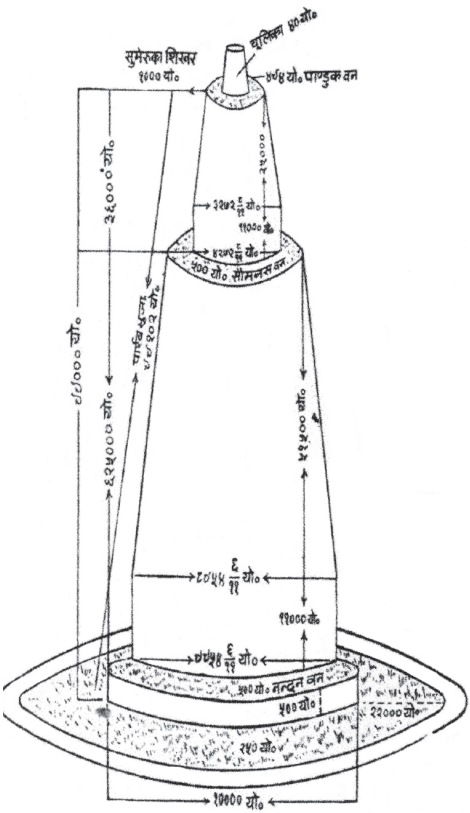
सुमेरुका शिखर
१००० यो०
चूलिका ४० यो०
४९४ यो० पाण्डुक वन
२८००० यो०
२४००० यो०
३२७२ ५/११ यो०
११००० यो०
४२७२ ५/११ यो०
५०० यो० सौमनस वन
६३००० यो०
६२४००० यो०
पार्श्व भुजा
२८७२०२ यो०
४२४०० यो०
८०५४ ६/११ यो०
११००० यो०
४४१० ६/११ यो०
५०० यो० नन्दन वन
५०० यो०
२२००० यो०
२५० यो०
१०००० यो०

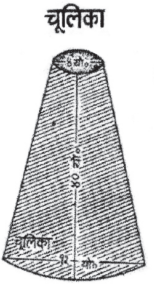
चूलिका
४० यो०
चूलिका
४ यो०

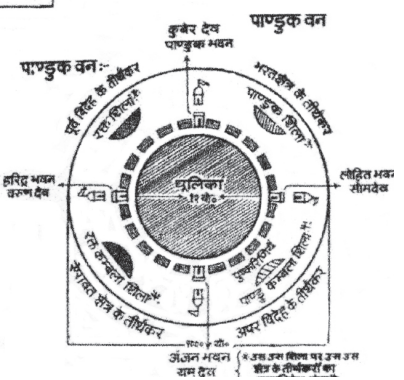
पाण्डुक वन
कुबेर देव
पाण्डुक भवन
पाण्डुक वन :-
पूर्व विदेह के तीर्थंकर
रक्त शिला
भरतक्षेत्र के तीर्थंकर
पाण्डुक शिला
हरिद्र भवन
वरुण देव
चूलिका
१२ यो०
लोहित भवन
सोम देव
रक्त कम्बला शिला
ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर
पाण्डु कम्बला शिला
अपर विदेह के तीर्थंकर
१००० यो०
अंजन भवन
यम देव
* उस उस शिला पर उस उस क्षेत्र के तीर्थंकरों का